आद्य वक्तव्य

अन्य भवों की अपेक्षा, मनुष्य भव आत्म-उन्नति के लिये अधिक उपयोगी है, अत मनुष्य जीवन का प्रत्येक क्षण अमूल्य है, इसको व्यर्थ खोना बडी भारी भूल है। इस कारण आत्म-हित के किसी भी कार्य में जरा भी प्रमाद (आलस्य) न करना चाहिये।

भोजन, विषय-सेवन, नींद, घूमना फिरना आदि कार्य मनुष्य से कहीं अच्छा पशु पक्षी किया करते हैं, अतः खाना पीना इन्द्रियां तृप्त करना, धन संचय करना, सन्तान उत्पन्न करना कोई महान कार्य नहीं, क्योंकि इससे आत्मा की तृप्ति नहीं होती, आत्मा की तृप्ति के लिये धर्म का आराधन उपयोगी है।

जो व्यक्ति निरन्तर आत्म-धर्म-साधन के लिये घर-परिवार को छोड़कर साधु नहीं बन सकता उसको गृहस्थाश्रम में रह कर धर्म-आराधन करना चाहिये। आत्मा को परमात्मा बनाने के लिये परमात्मा की पवित्र मूर्ति अपने सामने रखकर उसके देखने उसके चिन्तवन करने, उसके समान स्वय बनने की भावना करनी चाहिये। इसी उद्देश से मंदिर बनाकर, वहां प्रतिमा विराजमान करना, जिनवाणी का अभ्यास, सामायिक (ध्यान) आदि कार्य किये जाते हैं।

मनुष्य के जब तक हाथ, पैर, और नेत्र काम देते हैं तब तक उसका कर्त्तव्य है कि अपने आत्मा को परमात्मा की ओर ले जाने के लिये मंदिर में जाकर वीतराग परमात्मा का विनय के साथ दर्शन-पूजन करे जिससे कुछ आत्मा को खुराक मिले। इस कारण प्रातः काल अन्य सांसारिक कार्य करने से पहले, भगवान का दर्शन, पूजन अवश्य करना चाहिये, अपने मुख से

भगवान की स्तुति पढकर अपनी जीभ पवित्र करनी चाहिये। पता नहीं आज जो यह शुभ अवसर मिल रहा है वह कल भी मिल सकेगा या नहीं।

मुनि भी जिनेन्द्र भगवान का दर्शन, विनय, स्तुति तथा भाव पूजन करते हैं तब गृहस्थ को तो यह और भी अधिक करना चाहिये। पहाडी धीरज दिल्ली के तथा अन्य अनेक धार्मिक प्रियमित्रों ने दर्शन पूजन की विधि के विषय में कुछ सरूप से लिखने की प्रेरणा की थी, उनके अनुरोध से इस पुनीत कार्य में मेरा कुछ समय लगा है। सभव है इसमें प्रमाद-वश त्रुटियां रह गई हों विज्ञ सज्जन उनकी सूचना दें, जिससे उन्हें भविष्य में सुधारा जा सके।

अजितकुमार शास्त्री

सम्पादक—

जैनगजट, देहली।

भाद्रपद सुदी ५ बुधवार

वीर स० २४८१

२१-६-५५

पुस्तक मिलने का पता·—

(१) श्रीकरमचन्द जी जैन

C/o. मैसर्ज महावीरप्रसाद एण्ड सन्ज

चावड़ी बाजार, देहली

(२) ला० मुसद्दीलाल फूलचन्द जी जैन

टिंबर मारकेट, सदर बाजार, देहली

दो शब्द

इस भौतिक आर्थिक युग में मनुष्यों की रुचि धन कमाने की ओर ही लगी हुई है। आस्तिक्य भाव उनके हृदय से हटता जा रहा है, अतः वे अपने दैनिक धर्म कार्यों से भी हटते जा रहे हैं। परन्तु यह उनकी भूल है, धन सम्पत्ति का समागम भी धर्म करने से ही होता है, जिन्होंने पूर्व भव में धर्म-साधन किया था, दान दिया था, भगवान की भक्ति से पूजा की थी उनको ही शुभ कर्म-उदय से धन पाने में सफलता मिलती है। अतः आत्म-शान्ति और धन-समागम के लिये प्रतिदिन भगवान का दर्शन, पूजन, सामायिक, स्वाध्याय और दान अवश्य करना चाहिये।

प्रतिदिन गृहस्थी पुरुषों को धर्म-साधन किस तरह करना चाहिए, क्यों करना चाहिये, क्या उसका उद्देश्य है, इत्यादि बातो पर प्रकाश डालने वाली कोई सरल संक्षेप पुस्तक नहीं थी, ऐसी पुस्तक की आवश्यकता श्री डा० फूलचन्द्र जी, डा० कन्हैयाल़ालजी, ला० कर्मचन्द जी, ला० राजेन्द्र प्रसाद जी आदि कुछ मित्रों को तथा मुझे भी अनुभव हुई। उसके लिए हमने जैन गजट के यशस्वी सम्पादक तथा सत्यार्थ निर्णय, जीवन्धर, जैनकर्म-सिद्धान्त जैन धर्म परिचय (अप्रकाशित) आदि अनेक सुन्दर उपयोगी पुस्तकों के लेखक श्रीमान् प० अजितकुमार जी शास्त्री से प्रार्थना की, उन्होंने सहर्ष स्वीकारता देकर प्रस्तुत पुस्तक लिख दी। पस्तक लिखने में आप कहाँ तक सफल हुए हैंयह तो इस पुस्तक के पढ़ने वाले भाई बहिन पढकर मालम करेंगे। हाथ कंगन को आरसी की क्या जरूरत।

शास्त्री जी ने इस छोटी-सी पुस्तक में अनेक जानने लायक रहस्य की बातें बड़ी सरल भाषा में संक्षेप से लिखी हैं जिससे अनेक जिज्ञासाओं तथा शंकाओं का सन्तोषजनक समाधान सर्व-साधारण स्त्री पुरुषों को हो जावेगा। इस तरह यह छोटी-सी पुस्तक भी बड़े काम की है। पुस्तक लिखने के उपलक्ष्य में श्री पं० अजितकुमार जी शास्त्री को धन्यवाद है।

द्वितीय संस्करण

पहिला २००० प्रतियों का संस्करण ३ माह के अन्दर समाप्त हो गया है तथा चारों तरफ से इसकी माँग है। अतः ५००० प्रतियों का यह दूसरा संस्करण निकल रहा है। इसमें यत्र तत्र संशोधन करके कुछ उपयोगी विषय बढ़ा दिये गये हैं।

तृतीय संस्करण

दूसरा संस्करण भी जल्दी समाप्त हो गया और मांग वैसी की वैसी बनी हुई है अतः ५००० प्रतियों का यह तीसरा संस्करण निकल रहा है आप सबने इस पुस्तक को प्रेम से अपनाया उसके लिये मैं आभारी हूं।

श्री करमचन्द जी व डा० फूलचंद जी मेरे साथी तथा स्नेही बन्धु हैं, इन्होंने इस पुस्तक के कार्य में पूर्ण सहयोग दिया है परन्तु उनको 'धन्यवाद' देकर मैं उनकी सद्भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचाना चाहता।

इस पुस्तक के प्रकाशन में जिन महानुभावों ने सहायता दी है, उनको हार्दिक धन्यवाद।

निवेदक

—श्रीकृष्ण जैन

आवश्यक निवेदन

इ॒ा उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन में निम्नलिखित उदार महानुभावों ने जो आर्थिक सहायता प्रदानकी है उनको हार्दिक धन्यवाद है और आशा है कि आगे भी ऐसे प्रकाशन में सहयोग देंगे।

१	ला० महावीरप्रशाद एन्ड सन्ज, चावडी बाजार, देहली	७१)
२	ला० नेमचद जैन हैट वाले, सदर बाजार, देहली,	३१)
३	ला० मुसद्दीलाल फतचद जैन, टिम्बर मर्चेंट सदर बाजार, देहली	२५)
४	ला० प्यारेलाल मानसिंह जैन, सब्जी मण्डी, देहली	२५)
५	ला० राजेन्द्र प्रसाद, पहाडी धीरज देहली	२५)
६	बा० दीपचद जैन, पहाडी धीरज देहली,	२५)
७	बा० फिरोजी लाल जैन पहाडी धीरज देहली,	११)
८	ला० जुगमदरदास जैन, सदर कबाडी बाजार देहली,	११)
९	ला० बालमुकन्द बलवीर सिंह, सदर कबाडी बाजार देहली,	११)
	कुल जोड रु०	२३५)

आर्थिक सहायता प्राप्त होने पर भी पुस्तक का कम से कम मूल्य इस कारण रक्खा गया है जिससे कि पुस्तक लेने वाले उसका सदुपयोग करे। विना मूल्य की पुस्तक का लोग उचित उपयोग नही करते। बिक्री से जो आय होगी वह आगामी सस्करण (प्रकाशन) मे या अन्य कोई ऐसी पुस्तक मे खर्च होगी। ज्ञानप्रचार ही हमारा उद्देश्य है, व्यवसाय करना उद्देश्य नही।

निवेदक—श्रीकृष्ण जैन

* ॐ नमः सिद्धेभ्यः *

दैनिक जैनधर्म-चर्या

धर्म क्या है ?

पदार्थ का स्वभाव 'धर्म' कहलाता है। जैसे अग्नि का स्वभाव (धर्म) गर्मी है। उसी तरह आत्मा का स्वभाव अन्य सब पदार्थों से राग द्वेष रहित शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप सम्यग्दर्शन (सच्ची श्रद्धा Right faith) सम्यग्ज्ञान (सत्य-ज्ञान (Right knowledge), सम्यक्चारित्र (आत्म-शुद्धि करने वाला सच्चारित्र Right conduct) के द्वारा प्राप्त होता है, इस कारण इन तीनों को भी धर्म कहते हैं। धर्म आचरण से आत्मा शुद्ध उन्नत होता है, इस लिये आत्मा को उन्नत शुद्ध बनाने वाले कार्यों को भी धर्म कहते हैं। व्याख्याओं के शब्दों में अन्तर है, भाव सब का एक ही है।

जैनधर्म

कर्मों तथा कषायों (आत्मा के दुर्भावों) को जीत कर परम-शुद्ध परमात्मा को 'जिन' (जयति इति जिनः—विजेता) कहते हैं। जिन भगवान ने जो आत्मा को शुद्ध करके महात्मा तथा परमात्मा बनाने वाला मार्ग बतलाया उसको जैन-धर्म कहते हैं।

तीन चिन्ह

जैन धर्म अनुयायी के ३ विशेष चिन्ह हैं—१-रात्रि में भोजन न करना २-पानी कपड़े से छानकर पीना, ३-प्रति दिन जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करना। इसके सिवाय प्रत्येक जैन मांस, मदिरा (शराब) मधु (शहद) तथा ५ उदम्बर फल (बड़, पीपल, ऊमर यानी अंजीर, गूलर, और कठूमर) इन आठ चीजों को भी नहीं खाता पीता है। छोटे तथा बड़े आदि सभी त्रस जीवों को संकल्प से (इरादतन) नहीं मारना भी जैन धर्मानुयायी का चिन्ह है।

जैन धर्म का इतिहास

आज से करोड़ों वर्ष पहले अयोध्या में राजा नाभिराय की रानी मरुदेवी के उदर से एक महान् सौभाग्यशाली पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम 'ऋषभनाथ' रक्खा गया। ऋषभनाथ जन्म से ही अवधिज्ञानी थे। इन्होंने गृहस्थाश्रम में रहकर मनुष्यों को खेती करना, लिखना-पढ़ना, तैरना, बर्तन बनाना आदि कलाएं सिखलाई। बहुत दिनों तक राज्य करने के बाद एक दिन राजसभा में नाचती हुई नीलांजना देवी की मृत्यु देख कर संसार के कामों से इनका चित्त उचट गया और राजकाज अपने बड़े पुत्र भरत को सौंप कर आप नग्न साधु बन गये। तब इन्होंने बहुत समय तक कठिन तपस्या की और क्रोध, मोह, ममता आदि विकार भावों पर तथा ज्ञान, दर्शन, सुख, आत्म बल के विकास में रुकावट डालने वाले कर्मों पर विजय पाकर पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण सुखी और अनन्त बली तथा वीतराग हो गये, इस कारण आपका नाम 'जिन' (विजेता जीतने वाला) प्रसिद्ध हुआ।

उस समय इन्होंने 'समवशरण' नामक विशाल व्याख्यान-

सभा से देव, मनुष्य, पशु, पक्षियों को आत्म-उन्नति का उपदेश दिया, इस कारण उनके बतलाये धर्म का नाम 'जैन-धर्म' प्रख्यात हुआ। इस तरह इस समय में प्रचलित जैन-धर्म की नींव भगवान् ऋषभनाथ ने डाली है। भरत क्षेत्र में वे सब से पहले धर्म-उपदेशक (तीर्थंकर) हुए हैं।

भगवान ऋषभनाथ का पुत्र भरत सबसे पहला चक्रवर्ती सम्राट हुआ, उसी के नाम पर इस देश का नाम 'भारत' पड़ा है। भरत के सौतेले महा बलवान भाई बाहुबली ने भी एक वर्ष तक अडिग खड़े रह कर तपस्या की थी और मुक्ति प्राप्त की थी। भगवान ऋषभनाथ की ८६ फुट ऊँची प्रतिमा बड़वानी के समीप त्रिपुरा पर्वत पर है। बाहुबली की ५७ फुट ऊंची पाषाण की मूर्ति श्रवण बेलगोला (मैसूर) में है।

मुहनजोदारो (सिन्ध) में पृथ्वी खोदने पर जो पॉच हजार वर्ष पुरानी बहुत सी चीजें निकली हैं उनमें से कुछ ऐसी मुहरें (सीलें) भी हैं जिन पर भगवान ऋषभनाथ की नग्न खड़ी मूर्ति बनी हुई है जिससे सिद्ध होता है कि भगवान ऋषभनाथ की पूजा पाच हजार वर्ष पहले भी भारत में होती थी।

भगवान ऋषभनाथ के मुक्त होने के पीछे अजितनाथ आदि २३ तीर्थंकर और हुए, उन्होंने भी अपने अपने समय में उसी जैन-धर्म का प्रचार किया। राम लक्ष्मण के समय में २० वें तीर्थंकर श्री 'मुनिसुव्रतनाथ' थे।' यह बात 'योगवाशिष्ठ' ग्रन्थ के नीचे लिखे श्लोक से सिद्ध होती है:—

नाहं रामो न मे वांछा भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमासितुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

संसार से ऊब कर रामचन्द्र कहते हैं—"मैं राम (जिसमें योगी जन रमण करें) नहीं हू, न मुझे किसी तरह की चाह है, न

महात्मा

जिन बुद्धिमान स्त्री पुरुषों को विवेक द्वारा आत्मा और शरीर का भेद-ज्ञान हो जाता है, वे शरीर को अपनी वस्तु नहीं समझते, इसी कारण शरीर से उनकी मोह-ममता हट जाती है। शरीर की तरह वे संसार की अन्य वस्तुओं को भी अपनी नहीं समझते, विषय भोगों में भी उन्हें रुचि नहीं रहती। आत्मा को शुद्ध करने के लिये वे तप, त्याग, संयम का अभ्यास करते हैं। समता भाव का उनमें उदय होता है, इसलिये संसार में उनको न कोई मित्र दीखता है, न कोई शत्रु। शान्ति, वैराग्य बढ़ाने वाली बातों में उनकी रुचि बढ़ती जाती है। यदि वे गृहस्थ-आश्रम में किसी कारण रहते हैं, तो घर का काम बड़ी उदासीनता से करते हैं, उनकी यही इच्छा रहती है कि मुझे कब ऐसा अवसर मिले कि घर-बार छोड़कर एकान्त में आत्म-साधना करता रहूँ। जो लोग घर-बार छोड़ सकते हैं वे सब कुछ काम छोड़ कर अपना सारा समय आत्म-साधना में लगाया करते हैं। सारांश यह है कि भेद-विज्ञान हो जाने पर मनुष्य का ध्यान बाहरी बातों से हट कर आत्मा की ओर लग जाता है। ऐसे मनुष्य 'महात्मा' (विशेष-उच्च) होते हैं। उनका कर्म-बन्धन ढीला हो जाता है।

परमात्मा

संसार के सभी पदार्थों से मोह ममता का सम्बन्ध तोड़कर जब साधु बन करके विरक्त पुरुष तप, त्याग, संयम के द्वारा तथा आत्म-ध्यान के द्वारा आत्म-साधना में लीन हो जाते हैं, तब उन के नया कर्म-बन्धन होना रुक जाता है और पुराना कर्म-बन्धन भी टूटता जाता है। इस तरह उनका आत्मा शुद्ध होता चला जाता है। आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, सन्तोष, धीरता वीरता, गंभीरता आदि गुण विकसित होते जाते हैं। इस प्रकार जब

महात्मा अपनी आत्म-शुद्धि करते करते कर्म-बन्धन से छूट कर पूर्ण शुद्ध हो जाता है तब वह 'परमात्मा'(सबसे उच्च-शुद्ध आत्मा) बन जाता है उस समय वह जन्म मरण से छूटकर अजर अमर बन जाता है, अज्ञान और मोह से छूटकर सर्वज्ञ वीतराग बन जाता है। तब उसमें कोई विकार, दोष, क्लेश नहीं रहने पाता। निरञ्जन निर्विकार सच्चिदानन्द हो जाता है, समस्त दुखों से छूटकर अनन्त सुखी बन जाता है।

जैन धर्म और ईश्वर

जैनधर्म की यह एक विशेष मान्यता है कि वह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसे किसी व्यक्ति विशेष में ही केन्द्रित नहीं मानता है बल्कि प्रत्येक आत्मा में ईश्वरत्व शक्ति स्वीकार करता है। वह किसी एक अनादि-सिद्ध'परमात्मा को तो नहीं मानता परन्तु अब तक कर्म रूपी मैल को अलग करके जितने आत्मा मुक्त (परम आत्मा) हो चुके हैं और आगे भी होते रहेंगे जैन सिद्धान्त के अनुसार वे सभी मुक्तात्मा,सिद्धात्मा, परमात्मा, भगवान या ईश्वर हैं। वे रागद्वेषादि १८ दोषों से छूट जाते हैं तथा उनके अनन्त दर्शन ज्ञान, सुख, वीर्य आदि आत्मिक गुण प्रकट हो जाते हैं। वे लोक के अग्रभाग में स्थित सिद्धालय स्थान में जा विराजते है। संसार के किसी भी कार्य से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता तथा जिस प्रकार धान से छिलका अलग हो जाने पर चावलों में उगने की शक्ति नहीं रहती उसी प्रकार संसार में उत्पन्न होने का कारण,कर्म रूप बीज नष्ट हो जाने पर सिद्धात्माओं को संसार में फिर कभी भी जन्म

"Where is Thy God ? I find no trace of him in this absurd world."

—Lala Lajpat Rai in Mahratta 1933

नहीं लेना पड़ता और वे सदा अपने निराकुल सुख में लीन रहते हैं। कर्म शत्रुओं को जीतने के कारण इनको जिन या जिनेन्द्र भी कहते हैं।

इनमें से उन शुद्ध मुक्तात्माओं को जिन्होंने मुक्त होने से पूर्व प्राणियों को संसार के दुःखों से छूटने और मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग बतलाया था, जैनधर्म में तीर्थंकर माना गया है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में ऐसे तीर्थंकरों की संख्या २४ होती है। उन्हीं की अरहंत (मोक्ष जाने से पूर्व) अवस्था की मूर्तियां जैन मन्दिरों में विराजमान होती हैं।

हमारा लक्ष्य

जो स्त्री पुरुष संसार की अशान्ति, व्याकुलता, वेदना, अज्ञान से छूटना चाहते हैं उनका लक्ष्य यह 'परमात्मा' ही होता है क्योंकि पूर्ण शुद्ध होकर ही जन्म-मरण, अज्ञान, दुख, क्लेश दूर हो सकते हैं, अतः अपने आप को पूर्ण शुद्ध, निर्विकार, वीतराग परमात्मा बनाना ही बुद्धिमान स्त्री पुरुष का लक्ष्य हो सकता है।

लक्ष्य प्राप्त करने का साधन

अपने आत्मा को पूर्ण शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा बनाने के लिये अपनी दृष्टि बाहर से, यानी संसार की ओर से हटाकर अंतरंग, यानी आत्मा की ओर करनी चाहिये। ऐसा करने पर ही शरीर, पुत्र, मित्र, धन आदि से मोह ममता दूर होती है।

इस कार्य को सिद्ध करने के लिये एक तो आत्मा का और अनात्मा (जड़ पदार्थ, शरीर, धन, मकान आदि) तथा महात्मा, परमात्मा का, कर्म बन्धन करने, मुक्ति होने आदि बातों का आवश्यक ज्ञान होना चाहिये। उस ज्ञान के अनुसार अपनी श्रद्धा

(विश्वास) अटल हो जाना चाहिये। आत्म-श्रद्धा ही सत्य ज्ञान को स्थिर रखने की भूमि है, और आत्म-श्रद्धा हो जाने पर उसके अनुरूप ही आत्मा को संसार से छुड़ाने के लिये क्रिया (चारित्र) होने लगती है।

किन्तु आत्म-श्रद्धा को अटल बनाने के लिये बाहरी साधन या आश्रय (अवलम्बन-सहारा) भी होना आवश्यक है क्योंकि जो मन सदा बाहरी वस्तुओं में भटकता है उसको आत्म-मुख (आत्मा की ओर) करने के लिए साधन भी बाहर का ही ठीक रहता है। वह बाहरी साधन है 'वीतराग परमात्मा की मूर्ति।'

प्रतिमा की आवश्यकता

मन को बाहरी पदार्थों में उलझाने का कार्य स्पर्शन इन्द्रिय अन्य पदार्थों (वस्त्र, भूषण, सेज तथा स्त्री, पुरुष के शरीर आदि) को छूकर, रसना इन्द्रिय भोजन पान आदि का स्वाद लेकर, नासिका इन्द्रिय सूंघ कर, नेत्र इन्द्रिय अन्य पदार्थों का रंग रूप देखकर और कान अच्छे स्वर, गीत, शब्द सुन करके, करते हैं। मन भी इन्द्रियों के विषय भोगों में सदा उलझा रहता है।

इस उलझाने का काम सब से अधिक नेत्र इन्द्रिय करती है क्योंकि अन्य इन्द्रियों को तो अपनी विषय वस्तु कभी-कभी मिला करती हैं परन्तु नेत्रों को तो अपने लिये देखने के पदार्थ सदा मिलते रहते हैं। जागते समय तो आँखें संसार की बाहरी वस्तुओं को देखती हैं किन्तु सो जाने पर भी शरीर के बाहरी नेत्र बन्द रह कर भी जीव के भीतरी नेत्र काम करते हैं जिसके प्रभाव से स्वप्न-दोष आदि काम हो जाते हैं। इस कारण मन को सुलझाने के लिये विशेष रूप से नेत्र इन्द्रिय को सुलझाना चाहिए।

नेत्र जिस तरह जीवित सुन्दर स्त्री पुरुष को देखने के लिये लालायित रहते हैं इसी तरह निर्जीव सुन्दर स्त्री पुरुषों के चित्र

मूर्ति आदि देखने के लिये भी आकर्षित (खिचते) हुआ करते हैं। चलचित्र (सिनेमा) में जड छाया-चित्र ही दीख पड़ते हैं। उस सिनेमा को देख कर ही मन में अनेक तरह की तरगें उठा करती हैं। कामी स्त्री पुरुप अपनी कामवासना जाग्रत रखने के लिये कामातुर स्त्री पुरुपों के चित्र अपने यहाॅ सजा कर रखते हैं, त्यागी विरागी अपने यहाॅ साधु महात्माओं के चित्र सजाते हैं, सरकार अपने देश के नेताओं तथा वीरो की मूर्तिया सर्व साधारण स्थानों पर स्थापित करती हैं।

तदनुसार मन को अन्तर्मुख (आत्मा की ओर) करने के लिये शुद्ध वुद्ध परमात्मा की मूर्ति नेत्रों के लिए कार्यकारी है। क्योंकि आत्मा का जो स्वरूप (धीर, वीर, गम्भीर, शान्त, राग-द्वेप रहित, स्वात्म-लीन) शास्त्रों मे पढ़ा जाता है उसको समझने के लिए वैसी मूर्ति भी तो आखों के सामने आनी चाहिए। जैसे कि भूगोल का ज्ञान मानचित्र (नकशे) के विना देखे नहीं हुआ करता। हाथी, सिंह आदि की शक्ल सूरत का ज्ञान कराने के लिए या पूर्वज (मृतक) पुरुपों का बोध कराने के लिये उन सिंह पूर्वज स्त्री पुरुपों के चित्र मूर्ति आदि दिखलाने आवश्यक होते हैं। उसी तरह अपने लक्ष्य परमात्मा का ज्ञान कराने के लिये परमात्मा की वीतराग मूर्ति की आवश्यकता है।

वीतराग प्रतिमा को देखकर ही मन में यह भावना जमती है कि अपने आप को वाहरी वस्तुओं के सम्पर्क से अलग रख कर इस अर्हन्त परमात्मा की मूर्ति की तरह शांत, धीर निर्भय, आत्मा में लीन होना चाहिए, ऐसा हुए बिना सासारिक व्याकुलता दूर न हो सकेगी।

भावना कैसी होनी चाहिये

अरहन्त परमात्मा की प्रतिमा का दर्शन, पूजन, ध्यान करते

हुए अपने मन के विचार उसी वीतराग प्रतिमा के अनुसार राग-द्वेष, मोह-ममता-रहित अपने आत्मा को शुद्ध करने के होने चाहिए। भगवान् की मूर्ति हमारी भावना को शुद्ध करने का बाहरी साधन है।

वीतराग शान्त मूर्ति का दर्शन, पूजन, विचार करने से जो परिणाम निर्मल होते हैं, उनसे अशुभ (दुखदायक) कर्म छूट जाते हैं, या वे बदल कर शुभ (सांसारिक सुखदायक) हो जाते हैं, अशुभ कर्मों की शक्ति क्षीण होती है और शुभ कर्मों का बल बढ़ जाता है। इस ढंग से आत्मशुद्धि के साथ साथ सांसारिक सुख, शांति की विधि भी बन जाती है, क्योंकि शुभ कर्मों के उदय से ही सुखदायक पदार्थों का समागम हुआ करता है।

आत्मा के परिणामों को शुद्ध या (मंदकषाय रूप) शुभ करने के सिवाय भगवान् की मूर्ति और कुछ नहीं देती, न दे सकती है। इस कारण वीतराग भगवान् का दर्शन, पूजन, चिन्तवन, भक्ति करने का लक्ष्य आत्मा को शुद्ध, शांत, निर्विकार, वीतराग बनाने का ही रखना चाहिये।

सांसारिक सुख की प्राप्ति

जिस प्रकार किसान अन्न उत्पन्न करने के लक्ष्य से बहुत परिश्रम करके खेती करता है, तदनुसार उसको गेहूँ, चना आदि अन्न तो खेती से मिल ही जाता है, परन्तु साथ ही अनचाहा बहुत सा भुस भी प्राप्त हो जाता है, इसी तरह अरहन्त परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन पूजन का मुख्य लक्ष्य उन-जैसा पूर्ण शुद्ध परमात्मा बनने का होता है, परन्तु सांसारिक राग भाव घटने से और धार्मिक राग होने से शुभ कर्मोंका बन्ध बिना-चाहा भी स्वयं हो जाता है, उस शुभ कर्म के उदय से सांसारिक सुख के साधन स्वर्ग, धन, परिवार, मित्र आदि सामग्री स्वयं मिल जाती है।

अतः भगवान के दर्शन, चिन्तवन आदि का उद्देश अपने आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, शान्ति, सन्तोष, निर्भयता, धीरज आदि गुणों के विकसित करने का ही रखना चाहिए, क्योंकि आत्मा को सच्चा सुख और शान्ति अपने गुणों के विकास होने से ही मिलती है। भक्त स्त्री पुरुष के आत्मा में उन गुणों का ज्यों ज्यों विकास होता जायगा त्यों त्यों मन्द कषाय होने से सासारिक सुख साधन देने वाले शुभ कर्म स्वयं बधते जावेंगे।

भूल

वीतराग भगवान से धन सम्पत्ति, पुत्र, स्त्री आदि सांसारिक पदार्थों की इच्छा करना भूल है। वीतराग भगवान के पास न तो ये पदार्थ हैं और न वे इन वस्तुओं को दे सकते हैं और न उन से इन संसार-चक्र में घुमाने वाले पदार्थों की इच्छा ही करनी चाहिए। वे तो वीतराग हैं उनसे तो शान्ति सन्तोष आदि वीतरागता प्राप्त होने की ही इच्छा या माग अथवा भावना करनी चाहिए, यह ही आत्मा का सच्चा ऊंचा उद्देश, या लक्ष्य है। इसी लक्ष्य से आत्मा वास्तव में सुखी हो सकता है।

सारांश

जिन महात्माओं ने (तीर्थंकरों ने) राज-वैभव-परिवार आदि सासारिक सुख सामग्री छोड़ कर कठोर तपस्या करके परमात्मा पद प्राप्त किया था, अर्हन्त अवस्था (जीवन-मुक्त दशा) में उन्होंने आत्म-शुद्धि का मार्ग समस्त ससार को दिखाया था फिर वे पूर्ण-मुक्त होकर संसार से अदृश्य हो गये, उनका आदर्श प्राप्त करने के लिये उनकी अर्हन्त दशा की वीतराग प्रतिमा बनाई जाती है। उस वीतराग प्रतिमा का अर्हन्त भगवान की भावना से आत्म-शुद्धि करने के लिये दर्शन पूजन, विनय, भक्ति, चिन्तन करना चाहिये।

स्वाध्याय

प्रतिदिन जिनवाणी के शास्त्रों का पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सुनाना, पूछना, पाठ करना, चिन्तवन करना, चर्चा करना 'स्वाध्याय' है।

स्वाध्याय ज्ञान बढ़ाने का अच्छा सुगम साधन है।

संयम

सावधानी से देखभाल कर कार्य करते हुए जीवों की रक्षा करना तथा अपनी इन्द्रियों को वश करना 'सयम' है। इसके लिये प्रतिदिन भोजन पान वस्त्र, आभूषण, खेल देखने, गान सुनने, काम सेवन करने, सवारी करने आदि का नियम करते रहना चाहिये, कि मैं आज इतनी बार भोजन करूंगा, ब्रह्मचर्य से रहूंगा या एक बार विषय सेवन करूंगा, इतने पदार्थ खाऊँगा, एक खेल देखूंगा ('या नहीं) आदि ।

तप

इच्छाओंका रोकना 'तप' है। इसके लिये भोजन कम करना, एकाशन, रसत्याग आदि करते रहना चाहिये। सिनेमा आदि के देखने आदि की इच्छाओं को रोकना चाहिये।

दान

गृहस्थाश्रम में परिग्रह के सचय तथा आरम्भ कार्य से जो पाप सचय हुआ करता है, उस पाप भार को हलका करते रहने के लिये प्रतिदिन आहार, औषधि, अभय (रक्षा) और ज्ञानदान में से यथाशक्ति धर्म-पात्रों मुनि आदि को भक्ति के साथ तथा दीन दुखी जीवों को करुणा-भाव से आवश्यकतानुसार दान करना चाहिये।

भूखे को भोजन, नगे भिखारी को वस्त्र देना, अनाथ; विधवा, दुखी, दरिद्री की शक्ति अनुसार सेवा, उपकार करना

अतः प्रत्येक भाई को प्रतिदिन पूजा तथा शक्ति अनुसार दान अवश्य करना चाहिये।

रात्रि-भोजन

मनुष्य स्वभाव से दिवाचर (दिन में भोजन करने वाला) प्राणी है, दिन में भोजन मनुष्य के लिये सब तरह गुणकारी रहता है। सूर्य का प्रकाश जिस तरह मनुष्य के नेत्रों को देखने में सुविधा प्रदान करता है, सूर्य के प्रकाश में मनुष्य अपने भोजन में आये हुए सूक्ष्म जीव जन्तुओं, बाल आदि को अच्छी तरह देख कर उनको मुख में जाने से रोक सकता है, इसी तरह सूर्य का प्रकाश अनेक प्रकार के सूक्ष्म कीटाणुओं को भी उत्पन्न नहीं होने देता, इस कारण दिन के समय भोजन करने से वे कीटाणु भोजन में नहीं आने पाते जो कि सूर्य अस्त हो जाने पर उत्पन्न होते हैं और बहुत सूक्ष्म होने से नेत्रों से दिखाई नहीं पड़ते।

सूर्य अस्त हो जाने पर वायु मण्डल भी सूर्य किरणों के अभाव से स्वच्छ स्वास्थ्यकारक नहीं रहने पाता, वृक्ष भी दिन भर की सचित दूषित वायु छोड़ते रहते हैं, इसी कारण दिन की अपेक्षा रात्रि में रोग प्रबल हो जाते हैं, दिन की अपेक्षा रोगियों की-मृत्यु संख्या रात्रि में अधिक होती है, इसलिये स्वास्थ्य की दृष्टि से भी दिन में भोजन करना लाभदायक है।

सोने से पहले लगभग ४-५ घण्टे पहले भोजन कर लेना, भोजन पचाने के लिये आवश्यक है, ऐसा तभी हो सकता है जब कि भोजन दिन में कर लिया जावे।

इसके सिवाय भोजन बनाते समय अनेक जीव- जन्तु पकने वाले दाल, शाक, खीर आदि में पड़ जाते हैं, उनकी हिंसा तो होती ही है, किन्तु कभी कभी वे भोज्य पदार्थ भी विषैले हो जाते हैं जो कि प्राण नाश के भी कारण बन जाते हैं। गत वर्ष एक बरात

के मनुष्य इसी कारण मर गये कि उनको रात में बनाकर परोसे गये शाक में एक सांप गिर कर मर गया था, उसके विष से वह शाक विषैला हो गया था। १४-१५ वर्ष पहले मुसलमानों की एक बरात के १५-२० आदमी भी रात में बनाई गई खीर को खाकर मर गये थे। देखने पर पीछे मालूम हुआ कि खीर पकते समय छत में से एक काला सर्प खीर में गिर गया था। इन्दौर में एक वैष्णव पुजारी भी एक काले सर्प द्वारा पिये गये विषैले दूध को पीकर मर गया था, रात्रि के धीमे प्रकाश मे विषैले दूध का बिगड़ा हुआ रग उसे स्पष्ट दिखाई न दे सका। इत्यादि अनेक दुर्घटनाओं से रात्रि भोजन में बड़ी बडी हानियाँ प्रमाणित होती हैं।

बिजली का प्रकाश सूर्य के प्रकाश के समान न तो व्यापक होता है, न उतना स्पष्ट तथा सुलभ होता है और न रात के दूषित वातावरण को निर्दोष बना सकता है, इस कारण बिजली के प्रकाश द्वारा भी रात्रि समय पैदा होने वाले सूक्ष्म कीटाणु भोज्य पदार्थों से दूर नहीं किये जा सकते।

अत. दिन में भोजन बनाना और दिन में ही भोजन करना धार्मिक दृष्टि से, तथा शारीरिक दृष्टि से एवं जीमनवार आदि सामाजिक दृष्टि से भी लाभदायक है। कम से कम अन्न का भोजन तो रातमें प्रत्येक व्यक्ति को न करना चाहिये।

रात में भोजन करने वालों को नक्तञ्चर या निशाचर (राक्षस या जगली हिंसक जानवर) कहते हैं। मनुष्य को निशाचर न बनना चाहिये।

जल-छानना

मनुष्य को अपने जीवन के लिये वायु के बाद जिस चीज की सब से अधिक आवश्यकता है, वह है 'जल'। भोजन के

बिना केवल जल के सहारे मनुष्य कई मास तक जीवित रह सकता है अतः जल बहुत उपयोगी पदार्थ है।

जल में स्वभाव से छोटे त्रस कीटाणु उत्पन्न होते रहते हैं, उनमें से कुछ नेत्रों से दिखाई देते हैं, कुछ खुर्दबीन से दीख पड़ते हैं, यदि वे कीटाणु पीते समय पेट में चले जावें तो एक तो उन की हिंसा होती है, दूसरे उनके कारण कई रोग उत्पन्न हुआ करते हैं। नहरुआ रोग तो प्रायः बिना छना हुआ पानी पीने से ही हुआ करता है। इस कारण पानी सदा गाढ़े वस्त्र से छना हुआ पीना चाहिये। छने हुए जलको यदि ठण्डा ही रक्खा जावे तो उस में २ घड़ी (४८ मिनट) पीछे फिर जीव उत्पन्न हो जाते हैं इस कारण पानी जब भी पिया जावे छानकर ही पीना चाहिये। छने हुए जल में यदि लौंग, इलायची चूर्ण करके डाल दी जावे तो उसमें ६ घंटे तक जीव उत्पन्न नहीं होते। साधारण गर्म किये हुए जल में १२ घंटे तक तथा उबाले हुए जल में २४ घंटे तक जीव उत्पन्न नहीं होने पाते। इस मर्यादा के अनुसार पीने के लिये जल का उपयोग करना चाहिये।

मुजफ्फरनगर के एक गांव में एक आदमी ने गर्मी के दिनों में रात को लोटे में रक्खा हुआ जल यों ही पी लिया, लोटे में बैठा हुआ बिच्छू उसके मुख में चला गया और तालु से चिपट कर उसके डंक मारता रहा जिससे वह मर गया।

मुलतान में मूलचन्द्र कपूर नामक एक युवक नहर में स्नान करते समय पानी पी गया, पानी के साथ छोटा-सा मेंढक भी उसके पेट में चला गया जो कि उसके पेट में जाकर अटक गया और वहीं बढ़ता रहा। वह मेंढक जब मूलचन्द्र को काटता था तब उसके पेट में बहुत पीड़ा होती थी उसकी मुख और गुदा से रक्त भी आता था। वैद्य डाक्टर मूलचन्द्र के रोग का ठीक

निदान न कर सके। अन्त में ऐक्सरे से उसके पेट में कोई वस्तु मालूम हुई। पेट का जब ऑपरेशन किया गया तब साढ़े पॉच छटांक का मेंढक निकला।

इस तरह की अनेक घटनाएँ बिना छाना हुआ जल पीने से हो जाया करती हैं। अतः पानी को सदा दोहरे कपड़े से छान कर ही पीना चाहिए। तार की जाली से छाने हुए जल में बाल निकल जाता है। वस्त्र से छानने पर ऐसा नहीं होता।

जल को छानकर उसकी जिवानी (छाने हुए जल के जीव) उसी स्थान पर (कुएँ, बावड़ी, नदी में) पहुँचा देने चाहिये।

बिना छने हुए जल की एक बूंद में एक डाक्टर ने कीटाणुओं का चित्र लेकर ६५ हजार जीव गिने हैं। इस महान् हिंसा से बचने का उपाय केवल एक ही है और वह है कपड़े से छानकर जल पीना।

स्तुति

मान्य पूज्य व्यक्ति की प्रशसा में बढा चढ़ा कर वचन कहना 'स्तुति' है। जैसे दास (नौकर) अपने स्वामी को अन्नदाता, प्राणरक्षक,जीवनआधार आदि शब्द कह कर उसकी प्रशंसा करता है।

अर्हन्त भगवान सबसे अधिक पूज्य हैं, अतः उनकी प्रशंसा में भक्ति के साथ जो विनय-भरे शब्द मुख से निकलते हैं उसे भगवान की 'स्तुति' कहते हैं।

वैसे अर्हन्त परमात्मा में अनन्त, सीमा-रहित (बेहद) गुण हैं, उन गुणों का पूर्ण वर्णन जीभके द्वारा नहीं हो सकता, उनको बढ़ा-चढ़ा कर कहने की बात तो दूर रही, उन सब का साधारण कथन भी असंभव है, अतः वास्तव में तो अर्हन्त भगवान की स्तुति की नहीं जा सकती किन्तु फिर भी भक्ति-वश भगवान्

परमात्मा) अहम् (मैं हूँ) ।

'सोऽह' की भावना लेकर जव वह ससार, शरीर तथा विषय भोगों से रागभाव त्याग कर विरक्त हो जाता है । एकात निर्जन प्रान्त में ससार के समस्त सकल्प-विकल्प छोड़कर आत्म-साधना में लग जाता है, अनेक कष्ट उपद्रवों के आने पर भी अपने ध्येय से विचलित नहीं होता, शरीर की ममता जिसके विलीन हो जाती है, आत्म-ध्यान में ऐसा लीन होता है कि उसके सिवाय उसकी चित्तवृत्ति अन्यत्र कहीं भी नहीं जाने पाती, उस समय उसके नवीन कर्मबन्धन नगण्य (न कुछ) सा हो जाता है और पूर्व-सचित महान कर्म विनष्ट होने लगते हैं, जिससे कि सूक्ष्म राग द्वेष आदि विकार भी हरे भरे नहीं होने पाते, वल्कि सूखे पत्ते की तरह स्वय झड़ जाते हैं ।

तव उसकी भावना होती है केवल 'अहम् ' (मैं परम शुद्ध, पूर्ण शुद्ध परमात्मा हूँ) । उसकी यह भावना कोरी भावना नहीं रहती, पूर्ण शुद्ध होकर वह यथार्थ मे (सचमुच) 'परमात्मा' वन जाता है ।

इस तरह भगवान् का सच्चा भक्त 'दासोऽह' से 'सोऽह' वनता है और 'सोऽह' से 'अहम् ' होकर भगवान् की भक्ति के सहारे अन्त में स्वयं 'भगवान् वन जाता है ।

भगवान् भी वही सच्चा है जो अपने भक्त को अपने समान भगवान् वना दे और भक्त भी वही सच्चा है जो भगवान् की भक्ति के सहारे अन्त में स्वयं 'भगवान्' वन जावे ।

इसी कारण स्तुतियों में जिनेन्द्र भगवान् को दु.ख दूर करने वाला, सुख, सम्पत्ति, स्वर्ग, मोक्ष देने वाला वतलाया है । और अपने सुख कल्याण के लिये उससे तरह-तरह की मागें की हैं ।

दूसरी वात यह है कि भक्ति करते समय भक्त पुरुष भगवान के वहुत निकट अपनी गाढ़ी रागमयी भावना से पहुँच कर अपने

उसे रख दिया और क्रोध के उबाल में दो चार खरी खोटी बातें भी उन्हें सुना डालीं। उस बेचारी को क्या पता था कि उसका पति भगवान् के निकट पहुँचा हुआ है, अपनी तीव्र भावना के कारण इन सासारिक विचारों से बहुत दूर पर खड़ा है।

पुत्र को सामने पड़ा देख कर धनञ्जय की भक्ति में कुछ बाधा पड़ी, कुछ ध्यान उस ओर गया। परन्तु ध्यान तत्काल फिर भगवान् की भक्ति में लीन हो गया। उनकी स्त्री तथा मंदिर में आये हुए अन्य स्त्री पुरुष धनञ्जय की ऐसी भक्ति में लीनता देखकर चकित (हैरान) रह गये।

कवि धनञ्जय ने उसी समय विपापहार स्तोत्र बनाया और स्तवन करते हुए भगवान् से कहने लगे—

विषापहारं मणिमौषधानि,
मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति,
पर्यायनामानि तवैव तानि॥

यानी—शरीर का विष उतारने के लिये, जनता मणि, औषधि, मन्त्र तन्त्र को ढूढने में दौड़ती, भागती, फिरती है, उसको यह नहीं मालूम, कि ये सब आपके ही दूसरे नाम हैं। यानी—विष उतारने वाले तो सभी कुछ आप हैं।

उनकी पवित्र भावना का यह प्रभाव हुआ कि उनका पुत्र इस तरह उठकर खड़ा हो गया, जैसे गहरी नींद से जागा हो धनञ्जय फिर भी भगवान की स्तुति में लीन रहे और उन्होंने स्तुति के २५ पद्य और भी पढ़ कर अपनी भक्ति भावना को समाप्त किया।

'ऐसी ही बात श्री मानतुङ्ग आचार्य के साथ हुई, वे बन्दीघ

चिन्ता मत करो, सब ठीक हो जायगा। वह भक्त शिष्य घर चला गया।

रात्रि समय श्री वादिराज आचार्य ने एकीभाव स्तोत्र भगवान की भक्ति में तन्मय होकर बनाया। चौथे पद्य में वे कहते हैं—

प्रागवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात्,
पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम्।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट.,
तत्किं चित्रं जिन वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ॥

अर्थात्—हे जिनेन्द्र भगवन्! अन्तिम जन्म लेते समय माता के उदर में आने से पहले ही आपके प्रभाव से यह पृथ्वी मण्डल सुनहरा (रत्न वर्षा से) हो गया था, तो ध्यान के द्वारा यदि मैं आपको अपने हृदय में बिठालू तो क्या यह मेरा शरीर सुनहरा नहीं हो जायगा?

इस श्लोक के पढ़ने ही से वादिराज का कोढ़ दूर हो गया। प्रात: आकर राजा ने जब ब्राह्मण मन्त्री और उस जैन सभासद के साथ श्री वादिराज आचार्य के दर्शन किये तो जैन सभासद की बात सच पाई। इस पर उस ब्राह्मण मन्त्री को राजा ने बहुत फटकारा।

इस तरह भक्ति करते समय वीतरागता के सिद्धान्त को भक्ति के आवेश में गौण (पीछे) कर दिया जाता है। प्राय. सभी स्तुतियाँ इसी भक्ति-भावना से बनी हुई हैं। अत: जिनेन्द्र भगवान को वीतराग (कर्ता हर्ता न) मानते हुए भी इन स्तोत्रों में—

द्रौपदि को चीर बढ़ायो, सीता-प्रति कमल रचायो।
अंजन से किये अकामी, दुख मेटो अन्तरयामी ॥

इत्यादि प्रकार के भाव स्तुतिकारों ने रख दिये हैं। सबसे प्रथम स्तुतिकार (१८०० वर्ष पहले के, स्तुति बनाने की नींव डालने वाले), मुख्य परीक्षा-प्रधानी, भारत में अपने समय के सर्वोत्कृष्ट तार्किक विद्वान् श्री समन्तभद्र आचार्य ने अपने स्वयम्भूस्तोत्र में भी भक्ति की इसी पद्धति को अपनाया है।

साराश यह है कि भक्ति के समय भगवान् में अनुराग प्रधान होता है, सिद्धात प्रधान नहीं होता। अनुराग के बिना भक्तिभाव पूजन, स्तवन, विनय नहीं बन सकता।

भक्ति और सिद्धान्त

मुनि आत्मध्यान द्वारा राग, द्वेष, मोह, ममता, घृणा, क्रोध, काम, मद, अज्ञान आदि विकार भावों से अपने आत्मा को पूर्ण शुद्ध करके जिनेन्द्र भगवान होते हैं, इस कारण उनको न किसी से प्रेम होता है, न किसी से द्वेष भाव, न किसी से वे प्रसन्न होते हैं और न किसी से (नाराज) अप्रसन्न होते हैं। इस दशा में यदि कोई व्यक्ति उनकी पूजा, प्रशंसा, स्तुति करे तो वे उसको प्रसन्न (खुश) होकर कुछ पारितोषिक (इनाम) नहीं देते, तथा यदि कोई मनुष्य जिनेन्द्र भगवान् की निन्दा करे तो उन्हें क्रोध नहीं आता और इसी कारण वे निन्दा करने वाले को कुछ दण्ड नहीं देते हैं।

प्रश्न—इस दशा में उनका दर्शन, पूजन, स्तवन, भक्ति करने से क्या लाभ है।

उत्तर—जीव को सुख दुख कोई दूसरा व्यक्ति नहीं देता, उसके सचित (बांधे) किये हुये शुभ अशुभ कर्म का उदय ही उसे सुख दुख देता है। जीव अच्छे बुरे कार्य बाहरी पदार्थों के निमित्त से करता है। जिनेन्द्र भगवान की शान्त, निर्भय, प्रसन्न, निर्विकार वीतराग प्रतिमा का दर्शन करने से, उनके शुद्ध गुणों

की स्तुति करने से या उनकी मूर्ति द्वारा उनका चिन्तवन करने से मन में शान्ति, सन्तोष, क्षमा, वीतरागता की भावना जागृत होती है, क्रोध, कपट, लोभ आदि भाव दब जाते हैं, ऐसा होने से शुभ कर्मों का समागम होता है, जो कि सुखदायक होते हैं। इस कारण जिनेन्द्र भगवान की पूजा भक्ति दर्शन चिन्तवन सुखदाता बन जाता है।

पूज्य-प्रतिमा

एक साधारण पत्थर जब एक कुशल कारीगर के हाथ में आ जाता है तब वह उसको अपनी छैनी से गढ़ कर सुन्दर मूर्ति बना देता है, जिसके सौन्दर्य से देखने वाले के नेत्र और हृदय तृप्त हो जाते हैं। किन्तु उस मूर्ति का सन्मान तभी से प्रारम्भ होता है जबकि उसकी विधि-विधान से प्रतिष्ठा हो जाती है।

यों तो भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की मूर्ति बाजार में बिकती है किन्तु उसका न तो कोई सन्मान करता है, न उसके अपमान करने (जमीन पर डाल देने आदि) से दण्डनीय होता है। यदि वही मूर्ति किसी स्थान पर ठीक रीति से स्थापित कर दी जाती है, तो राज पुलिस, सेना उसको सिर झुका कर प्रणाम करती है, प्रत्येक अधिकारी उसका सन्मान करता है और यदि कोई व्यक्ति उसका अपमान करे तो उसको दण्ड दिया जाता है।

यही बात भगवान की प्रतिमा के विषय में है, शिल्पकार द्वारा बनाई गई मूर्ति तब तक पूज्य नहीं होती जब तक कि उस की विधि अनुसार सूर्य आदि मन्त्रों द्वारा प्रतिष्ठा न हो जावे। प्रतिष्ठा होने से पहले उस प्रतिमा में पूज्यता नहीं आती। अतः अप्रतिष्ठित मूर्ति को नमस्कार, पूजन आदि न करना चाहिए।

चित्र

जिस तरह अप्रतिष्ठित प्रतिमा अपूज्य होती है उसी तरह कागज, वस्त्र, टीन, लकड़ी तथा दीवाल पर बनाया गया भगवान का चित्र भी पूज्य नहीं होता, इसलिये ऐसे किसी चित्र को न तो हाथ जोड़ना चाहिये, न सिर झुकाकर नमस्कार करना चाहिये, न अभिषेक पूजन करना तथा अर्घ चढ़ाना चाहिये।

खण्डित प्रतिमा

प्रतिमा का यदि कोई ऐसा अंग भग हो जावे जिससे उसकी वीतराग मुद्रा में अन्तर न पड़े—जैसे कि उंगली का कुछ अंश खण्डित हो जावे, चरण का अश टूट जावे (इत्यादि) तो वह प्रतिमा अपूज्य नहीं होती। यदि प्रतिमा की ग्रीवा (गर्दन) नाक आँख आदि ऐसे अगोपाग भंग हो जावें जिनसे उसकी वीतराग मुद्रा में अन्तर आ जावे तो वह प्रतिमा पूजनीय नहीं रहती। ऐसी प्रतिमा को अगाध जल वाले नदी, समुद्र आदि में निक्षेप कर देना चाहिये।

मूर्ति पूजा का आरम्भ

वीतराग भगवान की मुक्ति हो जाने पर उनका साक्षात् दर्शन होना असम्भव है, अतः उनके दर्शन की भावना सफल करने के लिये भगवान की वीतराग प्रतिमा बनाकर उसके दर्शन पूजन करके अपना चित्त पवित्र करने की प्रथा अनादि समय से है।

इस युग की दृष्टि से सबसे पहले आज से करोड़ों वर्ष पहले भगवान ऋषभनाथ के बड़े पुत्र आद्य चक्रवर्ती सम्राट भरत ने—जिनके नाम पर इस देश का नाम 'भारत' रक्खा गया—कैलाश पर्वत पर भगवान ऋषभनाथ के मुक्त हो जाने के बाद मंदिरों का निर्माण कराया था और उनमें भूत भविष्यत् तथा वर्तमान काल के २४-२४ तीर्थंकरों की प्रतिमाएं विराजमान की थीं। भगवान

प्रतिमा पर अधिकार करने के लिये दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का परस्पर विवाद हो गया तब से श्वेताम्बर भाइयों ने अपनी श्वेताम्बरीय प्रतिमाओं की अलग पहचान रखने के लिये वीत-राग प्रतिमा को लंगोट का चिन्ह बनाना प्रारम्भ कर दिया। बहुत दिनों तक वे ऐसा ही करते रहे। उसके बाद वे मूर्ति में मुकुट, हार, धोती आदि भी बनवाने लगे। उदयपुर के मूर्ति-संग्रहालय मे वैसी श्वेताम्बर मूर्तियाँ हैं।

पूज्य

जगत में आध्यात्मिक सुख शांति प्राप्त करने के लिये पूजा आराधना करने योग्य तीन पदार्थ हैं—१. देव, २. गुरु, ३. शास्त्र

अर्हन्त, सिद्ध भगवान परमशुद्ध परमात्मा हैं, समस्त देव, इन्द्र, मनुष्य उनको पूज्य मानकर उनकी विनय पूजन करते हैं, अतः अर्हंत और सिद्ध परम पूज्य देवाधिदेव हैं।

अर्हन्त भगवान की दिव्य वाणी जिन ग्रन्थों में लिखी है वे ग्रन्थ पूज्य शास्त्र हैं।

ससार शरीर तथा विषय भोगों से विरक्त, आरम्भ-परिग्रह के त्यागी आत्म-शुद्धि मे तत्पर आचार्य, उपाध्याय और साधु तथा ऐलक क्षुल्लक पूज्य गुरु हैं।

जो सबसे उच्च पद में विराजमान हैं उन्हें 'परमेष्ठी' कहते हैं। परमेष्ठी ५ हैं—१. अर्हन्त, २. सिद्ध, ३. आचार्य, ४. उपाध्याय, ५. सर्व साधु।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घाति कर्मों का क्षय करके जिन को केवल ज्ञान (अनन्त ज्ञान) अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बल प्राप्त हो जाता है। जन्म, जरा, मृत्यु (बुढापा), तृषा (प्यास), क्षुधा (भूख), आश्चर्य (अचम्भा), पीड़ा, खेद (थकावट), रोग, शोक, अहकार, मोह,

४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग—सदा ज्ञान का अभ्यास करना।
५. संवेग—संसार से भय, धर्म तथा धर्म के फल में अनुराग।
६ शक्तितस्त्याग—शक्ति अनुसार दान करना।
७. शक्तितस्तप—शक्ति अनुसार तप करना।
८. साधु समाधि—समाधि सहित मरण तथा साधुओं का उपसर्ग दूर करना।
९. वैयावृत्य करण—रोगी बाल, वृद्ध मुनि की सेवा करना।
१०. अर्हन्त भक्ति—अर्हन्त भगवान की भक्ति करना।
११. आचार्य भक्ति—मुनि-संघ के नायक आचार्य की भक्ति करना।
१२. बहुश्रुत भक्ति—उपाध्याय की भक्ति करना।
१३. प्रवचन भक्ति—शास्त्र की भक्ति करना।
१४. आवश्यकापरिहाणि—छह आवश्यक क्रियाओं का निर्दोष आचरण।
१५. मार्ग प्रभावना—उपदेश, शंका समाधान, तपस्या आदि से धर्म का प्रभाव फैलाना।
१६. प्रवचनवात्सल्य—साधर्मी जन में गाढ़ा प्रेम।

इन १६ भावनाओं में से दर्शन विशुद्धि भावना का होना आवश्यक है, उसके साथ शेष १५ भावनाओं में से १-२-३-४ आदि जितनी भी हों या सभी हों तो तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो जाता है।

तीर्थंकर प्रकृति का उदय

तीर्थंकर प्रकृति के प्रभाव से तीर्थंकर होने वाले महान् व्यक्ति के माता के गर्भ में आते समय माता को शुभ १६ स्वप्न आते हैं, गर्भ में आने से ६ मास पहले देवियां माता की सेवा करने लगती हैं। तीर्थंकर के गर्भ में आने के बाद जन्म समय, मुनि-

दीक्षा लेते समय, केवल ज्ञान हो जाने पर तथा मोक्ष हो जाने पर देव महान उत्सव करते हैं, उस उत्सव में सम्मिलित होने वाले तथा उत्सव के देखने वालों के हृदय में धर्म के फल का प्रभाव अंकित होता है जिससे कि उनमें से अनेकों को सम्यग्दर्शन होता है, अनकों को शुभ कर्म-बन्ध आदि आत्म-कल्याण प्राप्त होता है इस कारण तीर्थंकर के 'गर्भ' जन्म' 'तपग्रहण' 'केवल ज्ञान उदय' और 'निर्वाण' होने वाले देव-उत्सवों को कल्याणक कहते हैं।

भरत, ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों के पांचों कल्याणक होते हैं, किन्तु विदेह क्षेत्रों में केवली, श्रुतकेवली की परम्परा सदा चालू रहती है, अतः वहां जो मनुष्य पूर्वभव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लेता है उस के पांच कल्याणक होते हैं। किन्तु कोई व्यक्ति गृहस्थ दशा में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है तो उसके तपग्रहण, केवल ज्ञान उदय और मुक्ति गमन समय के तीन ही कल्याणक होते हैं तथा जो पुरुष मुनि अवस्था में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके उसी भव में उसके उदय से तीर्थंकर बनता है उनके ज्ञान और निर्वाण ये दो कल्याणक ही होते हैं। यानी-विदेह क्षेत्र में तीन तथा दो कल्याणक वाले भी तीर्थंकर होते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का उदय

यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति के प्रभाव से गर्भ में आने से भी ६ माह पहले से तीर्थंकर के माता पिता के घर, उस नगर में रत्न-वर्षा आदि उत्सव होने लगते हैं, जन्म होने पर तथा मुनि दीक्षा ग्रहण करते समय जो महान् उत्सव होते हैं किन्तु उस समय तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं होता है, तीर्थंकर प्रकृति का उदय अर्हन्त अवस्था में—केवल ज्ञान हो जाने पर होता है। तीर्थंकर

प्रकृति के उदय से तीर्थंकर की इच्छा न होते हुए भी स्वयं उनके मुख से समस्त जीवों का कल्याण करने वाला, सत्य मार्ग प्रगट करने वाला, यथार्थ सिद्धान्त का प्रकाशक दिव्य उपदेश होता है।

समवशरण

तीर्थंकर के उस दिव्य उपदेश से लाभ लेने के लिये "समवशरण" नामक महान सुन्दर, विशाल सभा-मण्डप देवों द्वारा बनाया जाता है, उसके बीच में तीर्थंकरों का ऊंचा आसन होता है, उसके चारों ओर १२ कक्ष (विशाल कमरे) बने होते हैं, उन कक्षों में देव देवियां, पुरुष, स्त्रियां, साधु साध्वियां, पशु पक्षी सुविधा के साथ बैठ कर तीर्थंकर का उपदेश सुनते हैं। तीर्थंकर की वाणी को देव सर्व भाषामय कर देते हैं, अतः वहाँ पर बैठे हुए प्रत्येक प्राणी उसे अपनी अपनी भाषा में समझ लेते हैं।

साधारण केवली

तीर्थंकर के सिवाय अन्य केवल-ज्ञानियों के लिये भक्त देवों द्वारा केवल "गन्धकुटी" नामक उच्च आसन बनाया जाता हैं, समवशरण नहीं बनाया जाता। उनका उपदेश बिना समवशरण के होता है।

कोई मूक केवली भी होते हैं जो मौन रहते हैं, उनका उपदेश नहीं होता है।

तीर्थंकरों के ४६ गुण

अन्य मनुष्यों या केवलियों की अपेक्षा तीर्थंकरों में निम्न-लिखित ४६ गुण विशेष होते हैं।

३४ अतिशय (चमत्कार पूर्ण अद्भुत बातें), ८ प्रातिहार्य, ४ प्रकार के गुण (अनन्त चतुष्टय)।

इनमें से तीर्थंकरों के १० अतिशय जन्म समय से, १० केवलज्ञान होने पर स्वय होते है और १४ अतिशय देवों द्वारा होते है।

जन्म के १० अतिशय

अतिशय रूप सुगन्ध तन, नाहि पसेव निहार।
प्रिय हितवचन अतुल्य बल, रुधिर श्वेत आकार ॥१॥
लक्षण सहसरु आठ तन, समचतुष्क सठान।
वज्रऋषभनाराचजुत, ये जनमत दश जान ॥२॥

यानी—१. तीर्थंकर का शरीर अत्यन्त सुन्दर होता है। २. उनके शरीर मे सुगन्धि आती है। ३ उनके शरीर मे कभी पसीना नहीं आता। ४ उनके शरीर की पाचन शक्ति ऐसी होती है कि जीवन भर उनको मल मूत्र (टट्टी पेशाब) नहीं होता। ५ उनके वचन बहुत हितकारी मीठे होते है। ६. उनके शरीर मे अन्य मनुष्यों से अधिक असाधारण बल होता है। ७ उनका रक्त (खून) लाल न होकर दूध के समान सफेद होता है। ८. उनके शरीर मे १००८ शुभ चिन्ह होते हैं। ९ समचतुरस्र सस्थान के अनुसार उनके शरीर का प्रत्येक अग और उपाग ठीक आकार में सुडौल होता है। १० वज्रऋषभनाराच सहनन के अनुसार उनके शरीर की हड्डी, हड्डियो के जोड, जोडो की कील वज्र के समान दृढ (मजबूत) होती हैं।

केवल ज्ञान समय के १० अतिशय

योजन शत इक मे सुभिख, गगनगमन मुख चार।
नहि अदया उपसर्ग नहि, नाही कवलाहार ॥ ३

सब विद्या-ईश्वरपनों, नाहिं बढ़ें नख केश।
अनिमिष-दृग छाया-रहित, दश केवल के वेश ॥४॥

यानी—१ केवली तीर्थंकरों के चारों ओर १०० योजन तक सुभिक्ष, (सुकाल) होता है—अकाल नहीं होता। २. केवल-ज्ञानी तीर्थंकर चलते समय पृथ्वी से ऊपर (अधर) चलते हैं। ३. जहाँ (समवशरण में) बैठते हैं वहाँ उनका एक ही मुख चारों ओर दिखाई देता है। ४. उनके शरीर से किसी भी सूक्ष्म स्थूल जीव का घात नहीं होता। ५. उन पर कोई उपसर्ग (उपद्रव) नहीं होता ६. केवल ज्ञान हो जाने पर उनको न भूख लगती है, न वे भोजन करते हैं, अनन्त बल के कारण उनका शरीर दृढ़ बना रहता है। ७. केवल ज्ञान हो जाने के कारण उनको समस्त प्रकार का पूर्ण ज्ञान होता है,कोई भी विद्या-ज्ञान अपरिचित (बिना जाना हुआ) नहीं रहता। ८. उनके नाखून और बाल फिर बढ़ते नहीं हैं। ९. उनके नेत्र सदा आधे खुले रहते हैं—पलक झपकते (मिचते) नहीं हैं। १० उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती है।

देवों द्वारा होने वाले १४ अतिशय

देव रचित हैं चारदश, अर्द्ध मागधी भाष।
आपस मांहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश ॥५॥

होत फूल फल ऋतु सबै, पृथिवी कांच समान।
चरणकमल तल कमल ह्वै, नभ तें जय जय त्रान ॥६॥

मन्द सुगन्ध बयारि पुनि, गधोदक की वृष्टि।
भूमि विषै कंटक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि ॥७॥

धर्मचक्र आगे रहै, पुनि वसु मंगल सार ।
अतिशय श्री अरहंत के, ये चौंतीस प्रकार ॥८॥

यानी—१. भगवान की वाणी को मगध देव सर्व जीवों की भाषामय कर देते हैं। २ भगवान के निकट आये हुये जीव शान्त होकर परस्पर प्रेम के साथ बैठते हैं। ३. समस्त दिशायें साफ होती हैं। ४. आकाश स्वच्छ होता है। ५. देव उस स्थान का वायुमण्डल ऐसा विचित्र कर देते हैं जिससे विभिन्न ऋतुओं में फलने-फूलने वाले वहा के सभी वृक्षों पर फल-फूल आ जाते हैं। ६. वहां की पृथ्वी को दर्पण की तरह स्वच्छ कर देते हैं। ७, चलते समय देव भगवान के चरणों के नीचे सुवर्णमय कमल के फूल बनाते जाते हैं। ८. देव आकाश में भगवान की जयकार बोलते हैं। ९ सुगन्धित धीमी वायु चलती है। १०, सुगन्धित छोटे जलकण (बूंदे) आकाश से गिरते हैं। ११. वहाँ की पृथ्वी पर कांटे, कंकड़ आदि चुभने वाले पदार्थ नहीं रहने पाते। १२ चारों ओर हर्ष का वातावरण हो जाता है। १३. सूर्य समान चमकदार धर्मचक्र (पहिये के आकार का पदार्थ) भगवान के पास देव रखते हैं, विहार समय देव उसे लेकर भगवान के आगे-आगे चलते हैं। १४. छत्र, चमर, ध्वजा, दर्पण, स्वस्तिक (साथिया), ठौणा, झारी और कलश ये आठ मगलीक (शुभ) द्रव्य देव भगवान के निकट रखते हैं।

आठ प्रातिहार्य (दिव्य महत्व शाली पदार्थ)

तरु अशोक के निकट में सिंहासन छविदार ।
तीन छत्र शिर पर लसें, भामण्डल पिछवार ॥९॥

दिव्यध्वनि मुखतें खिरै, पुष्पवृष्टि सुर होय।
ढोरें चौंसठ चंवर जख, बाजै दुन्दुभि जोय ॥१०॥

यानी—१. भगवान के निकट अशोक वृक्ष होता है। २. दिव्य सुन्दर सिंहासन (भगवान उस पर चार अंगुल ऊपर-अधर बैठते हैं), ३. शिर पर तीन छत्र, ४. पीठ पीछे भगवान की शरीर की कान्ति का पुञ्जरूप भामण्डल। ५. मुख से दिव्यवाणी प्रगट होना। ६. आकाश से देवो द्वारा फूलों की वर्षा। ७. यक्ष देव भगवान पर ६४ चमर ढोरते हैं। ८. देव मनोहर सुरीला दुन्दुभी बाजा बजाते हैं।

अनन्त चतुष्टय

ज्ञान अनन्त-अनन्त सुख, दरश अनन्त प्रमान।
बल अनन्त अर्हन्त सो, इष्ट देव पहचान ॥११॥

यानी—१. अनन्तज्ञान, २. अनन्त दर्शन, ३. अनन्त सुख और ४ अनन्त-बल।

इन ४६ गुणों में से अनन्त चतुष्टय आदि कुछ गुण अन्य केवलियों में भी होते हैं।

तीर्थंकरों के चिन्ह

तीर्थंकरों के दाहिने चरण के अंगूठे पर जो चिन्ह होता है वही चिन्ह उस तीर्थंकर की ध्वजा आदि में इन्द्र अंकित कर देता है। प्रतिमाओं पर भी वही चिन्ह अकित होता है। वर्तमान युग के २४ तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर निम्नलिखित चिन्ह अकित किये जाते हैं।

१. श्री ऋषभनाथ—बैल
२. श्री अजितनाथ—हाथी
३. श्री शम्भवनाथ—घोड़ा
४. श्री अभिनन्दननाथ—बन्दर

गुण),८. अव्यावाध (वेदनीय कर्म न रहने से अव्यावाध गुण)।

आचार्य

मुनि-संघ के नायक, मुनिदीक्षा देने वाले, मुनियों को प्रायश्चित्त देने वाले 'आचार्य' परमेष्ठी हैं। उनमें अन्य मुनियों के २८ मूल गुणों के सिवाय निम्नलिखित ३६ गुण और विशेष होते हैं।

द्वादश तप दश धर्मयुत, पालें पचाचार।
षट् आवश्यक त्रिगुप्ति गुण, आचारज पदसार ॥१३॥

१२ तप, १० धर्म, ५ आचार ६ आवश्यक, ३ गुप्ति, ये ३६ विशेष गुण आचार्य परमेष्ठी के होते हैं।

१२ तप

अनशन उनोदर करें, व्रतसंख्या रस छोर।
विविक्त शयनासन धरें, कायक्लेश सुठौर ॥१४॥
प्रायश्चित धरि विनययुत, वैयाव्रत स्वाध्याय।
पुनि उत्सर्ग विचारके, धरें ध्यान मन लाय ॥१५॥

१. अनशन (चारों प्रकार के भोजन का त्याग करके उपवास करना) २. 'ऊनोदर' या 'अवमौदर्य' (भूख से कम खाना) ३. व्रत परिसंख्यान (भोजन ग्रहण करने के लिये घर, दाता आदिका नियम करना) ४, रस परित्याग (दूध, दही, घी, तेल, नमक, खांड (मीठा) इन छः रसों में से किसी एक दो आदि या सब रसों का छोड़ना) ५. विविक्त शयनासन (एकान्त स्थान में रहना, सोना) ६. काय-क्लेश (खडे होकर ध्यान करना) ये छह बहिरंग तप हैं।

७, प्रायश्चित्त (चारित्र आदि मे लगे हुए दोषों का दंड लेना) ८, विनय (रत्नत्रय तथा उसके धारक संयमी का आदर विनय करना), ६ वैयावृत्य (रोगी, बाल, वृद्ध मुनि की सेवा करना), १० स्वाध्याय (शास्त्रों का पठन पाठन करना), ११ व्युत्सर्ग (शरीर तथा उपकरणों से मोह छोडना) १२ ध्यान (चित्त एकाग्र करके आत्मचिन्तन करना) ये छह अन्तरंग तप हैं।

१० धर्म

क्षमा मार्दव आर्जव सत्यवचन चितपाक।
संयम तप त्यागी सरव, आकिंचन तियत्याग ॥१६॥

१ क्षमा (क्रोध का त्याग) २ मार्दव (अभिमान का त्याग), ३ आर्जव (छल कपट का त्याग), ४ शौच (लोभ का त्याग), ५. सत्य, ६ संयम (इन्द्रिय, मन का वश करना, छह काय के जीवों की रक्षा करना), ७ तप (१२ प्रकार के तप करना—इच्छाओं का निरोध करना), ८ त्याग (अभय, ज्ञान आदि का दान करना), ६ आकिंचन (सब ममता भाव का त्याग), १०. ब्रह्मचर्य (१८ हजार प्रकार का शील धारण करना)।

५ आचार, ३ गुप्ति

दर्शन ज्ञान चरित्र तप, वीरज पंचाचार।
रोकें मन वच काय को, गुप्तित्रय गुणसार ॥१७॥

१ दर्शनाचार (निर्मल सम्यग्दर्शन), २ ज्ञानाचार (विशेष ज्ञान का अवधारण), ३ चारित्राचार (निर्मल चारित्र का आचरण) ४ तपाचार (कठोर तपस्या करना), ५ वीर्याचार (भयानक परिग्रह सहने व उपसर्ग सहन करने की क्षमता) ये पांच आचार हैं।

१. मनगुप्ति (मन में बुरे संकल्प विकल्प न आने देना), २ वचनगुप्ति (मौन रखना), ३ काय गुप्ति (निश्चल शरीर करना), ये तीन गुप्ति हैं।

६ आवश्यक

समता धरि वदन करें नाना थुती बनाय ।
प्रतिक्रमण स्वाध्यायजुत कायोत्सर्ग लगाय ॥१८॥

१. सामायिक (समस्त पदार्थों से राग द्वेष छोड़कर समता भाव से आत्मचिन्तन), २ वदना (पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार ३ स्तुति (पञ्च परमेष्ठी का वचन द्वारा स्तवन), ४. प्रतिक्रमण (लगे हुए दोषों का पश्चात्ताप करना), ५ स्वाध्याय (शास्त्र-अध्ययन करना), ६ कायोत्सर्ग (खड़े होकर ध्यान करना) ये प्रतिदिन अवश्य किये जाने वाले आवश्यक कार्य हैं। ये ३६ गुण आचार्य परमेष्ठी में अन्य साधुओं की अपेक्षा विशेष होते है, २८ मूलगुण तो उनके होते ही हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी

मुनि सघ में सब से अधिक ज्ञानी, अन्य मुनियों को पढ़ाने वाले 'उपाध्याय' परमेष्ठी होते हैं । ११ अग, १४ पूर्व (महान शास्त्रों का ज्ञान रूप २५ गुण उपाध्याय परमेष्ठी के हैं।

११ अङ्ग

प्रथमहिं आचारांग गनि, दूजो सूत्रकृतांग ।
ठाण अंग तीजो सुभग, चौथो समवायांग ॥१९॥
व्याख्यापण्णत्ति पांचमो, ज्ञातृकथा षट् आन ।
पुनि उपासकाध्ययन है, अन्तःकृतदश ठान ॥२०॥

अनुत्तरण उत्पाद दश, सूत्रविपाक पिछान।
बहुरि प्रश्नव्याकरणजुत, ग्यारह अंग प्रमान ॥२१॥

१. आचारांग २ सूत्रकृतांग, ३ स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६ ज्ञातृकथा, ७ उपासकाध्ययन, ८, अन्तःकृतदशांग. ९. अनुत्तरोत्पादक दशांग, १० सूत्रविपाक और ११ प्रश्न व्याकरण, ये ग्यारह अंग शास्त्र हैं।

१४ पूर्व

उत्पादपूर्व अग्रायणी, तीजो वीरजवाद।
अस्तिनास्तिपरवाद पुनि, पंचम ज्ञानप्रवाद ॥२२॥
छट्ठो कर्मप्रवाद है, सत्यप्रवाद पहिचान।
अष्टम आत्मप्रवाद पुनि, नवमो प्रत्याख्यान ॥२३॥
विद्यानुवाद पूरव दशम पूर्व कल्याण महन्त।
प्राणवाद किरिया बहुल, लोकविन्दु है अन्त ॥२४॥

१. उत्पादपूर्व २ अग्रायणी, ३. वीर्यवाद, ४ अस्तिनास्ति प्रवाद, ५. ज्ञान प्रवाद, ६ कर्म प्रवाद, ७. सत्य प्रवाद, ८ आत्मप्रवाद, ९. प्रत्याख्यान, १० विद्यानुवाद, ११. कल्याण पूर्व १२. प्राणवाद, १३. क्रिया विशाल, १४. लोक विन्दुसार, ये १४ पूर्वों के नाम हैं। इन ११ अंगों, १४ पूर्वों में भिन्न २ विषयों का विस्तार से विवेचन है। ११ अंग; १४ पूर्वों का पूर्ण ज्ञान श्रुतकेवली को होता है।

साधु परमेष्ठी

समस्त आरम्भ परिग्रह त्याग कर २८ मूल गुण पालन करने वाले साधु परमेष्ठी हैं।

२८ मूल गुण

५. महाव्रत, ५ समिति, ६. आवश्यक, ७ शेष गुण।

५ महाव्रत

हिंसा अनृत तस्करी अब्रह्म परिग्रह पाय।
रोकें मन बचकाय से पंच महाव्रत थाय ॥२४॥

१. अहिंसा महाव्रत (त्रस स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग) २. सत्य महाव्रत ३. अचौर्य महाव्रत (जल मिट्टी तक भी बिना दिये न लेना), ४. ब्रह्मचर्य महाव्रत (स्त्री मात्र के शरीर-स्पर्श का त्याग), ५. परिग्रह त्याग महाव्रत (अन्तरग बहिरंग परिग्रह त्याग)

५ समिति

ईर्या भाषा एषणा पुनि क्षेपण आदान।
प्रतिष्ठापना जुत क्रिया पांचो समिति विधान ॥२५॥

१. ईर्या (चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलना), २. भाषा समिति (हितकारी, प्रिय, थोड़े वचन कहना), ३. एषणा (निर्दोष भोजन करना), ४. आदान-निक्षेपण (शास्त्र, पीछी, कमण्डलु देखभाल कर उठाना, रखना), ५. प्रतिष्ठापान या उत्सर्ग (मल मूत्र थूक आदि जीव रहित स्थान पर करना) ये पाच समिति हैं।

५ इन्द्रियदमन, ६ आवश्यक, ७ शेष गुण

सपरश रसना नासिका नयन श्रोत्र का रोध।
षट आवश्यक मज्जनतंजत शयन भूमिका शोध।२६।
वस्त्रत्याग कचलुंच अरु लघु भोजन इक बार।
दांतन मुख मे ना करें ठाड़े लेंहि अहार ॥ २७ ॥

१. स्पर्शन (त्वचा चमड़ा), २. रसना (जीभ), ३. नासिका (नाक), ४. नेत्र (आँख), ५ श्रोत्र (कान), इन पांचों इन्द्रियों को

वश करना। १ सामायिक, २. वंदना, ३ स्तुति, ४. प्रतिक्रमण, ५. स्वाध्याय, ६ कायोत्सर्ग, ये छः आवश्यक हैं, इनका अभिप्राय आचार्य परमेष्ठी के गुणों मे छह आवश्यकों के अनुसार है।

१. स्नान का त्याग (कभी स्नान नहीं करते—यदि कभी अशुचि पदार्थ का स्पर्श हो जाय तो निश्चल खड़े होकर कमण्डल का पानी शिर पर से डाल लेते है), २. भूमि पर सोना (पलग विस्तर पर नहीं सोते, जमीन, शिला, तख्ते पर एक करवट से सोते हैं), ३ वस्त्र त्याग (लगोटी तक भी न पहन कर नग्न रहते हैं), ४. केश लोंच (शिर मूँछ दाडी के वालों को अपने हाथों सें उपाड़ते हैं—कैंची, छुरा आदि से नहीं वनवाते), ५ एक वार थोड़ा भोजन, ६ दातन नहीं करते, ७ खड़े होकर भोजन करना। इस तरह सव २८ मूल गुण साधु मात्र के होते हैं।

मन्दिर क्या है ?

तीर्थंकर जव अर्हंत (वीतराग सर्वज्ञ) हो जाते हैं उस समय उनका दिव्य उपदेश कराने के लिये देवोंद्वारा 'समवशरण' नामक एक वहुत विशाल और वहुत सुन्दर सभा-मण्डप वनाया जाता है। उस समवशरण के वीच में दिव्य सिंहासन पर (उसके चार अगुल ऊँचे अधर) भगवान वैठ कर उपदेश देते हैं। देव-भक्ति वश उनके शिर पर तीन छत्र लगाते हैं, चमर ढोरते है, मंगलीक वाजे वजाते हैं, उन की पीठ के पीछे भामण्डल होता है। प्राय' उसी के अनुकरण (नकल) रूप में मदिर वनाया जाता है। वीत-राग प्रतिमा को विराजमान करने के लिये सिंहासन तथा उनके ऊपर छत्र, पीछे भामडल, चमर आदि की योजना की जाती है।

अर्हंत प्रतिमा बनाने की विधि के अनुसार सिंहासन, छत्र, चमर (ढोरते हुए दोनों ओर यक्ष), भामण्डल आदि प्रातिहार्य प्रतिमा के साथ ही उसी धातु के बनने चाहियें, जैसाकि प्राचीन प्रतिमाओं के साथ अनेक स्थानों पर है। उस दशा मे अलग सिंहासन आदि की योजना नहीं की जाती। जिन प्रतिमाओं के साथ उकेरे हुए छत्र आदि नहीं होते उनके लिये छत्र, चमर, भामण्डल, सिंहासन आदि की योजना पृथक् रूप से की जाती है।

इस तरह मन्दिर समवशरण का बहुत कुछ अनुकरण है और छत्र चमर, सिंहासन भामण्डल आदि प्रातिहार्यों का अनुकरण है। परमात्मा का परम महत्व प्रगट करने के लिये तथा भगवान के ऊपर (छत पर) जन साधारण का पैर न पड़ने पावे इस अभिप्राय से मन्दिर का ऊंचा शिखर बनाया जाता है। जिसको दूर से देखते ही पूज्य पवित्र स्थान मन्दिर का पता लग जाता है और, हृदय में पवित्र भाव उदय होने लगते है।

मन्दिर की विनय

परमशुद्ध अर्हन्त प्रतिमा के विराजमान होने से मन्दिर एक पवित्र स्थान होता है, उसको नव देवताओं (५ परमेष्ठी, जिन प्रतिमा, जिन मन्दिर, जिनवाणी और जिन धर्म) में से एक देवता माना गया है, अत मन्दिर का भी सम्मान करना चाहिये उसको पवित्र रखना चाहिये। जिस तरह तीर्थंकरों, मुनियों आदि के तपस्या करने के तथा मुक्त होने के स्थान पवित्र और वदनीय तीर्थ स्थान माने जाते हैं, उन स्थानों की वदना करते समय उन तीर्थंकरों तथा तपस्वियों का चिन्तवन, वदना करने से मन पवित्र होता है ठीक वैसी ही बात मन्दिरों के विषय मे है। मन्दिर भी

भगवान की मूर्ति तथा जिन वाणी विराजमान होने से पवित्र स्थान होते हैं, आत्मा को पवित्र करने के लिये धर्म स्थान है। अतः मन्दिर का भी सम्मान विनय करना चाहिये।

मन्दिर का विनय यही है कि स्नान करके, पवित्र वस्त्र पहन कर पवित्र भावना से मन्दिर में आवें। भगवान के सामने जाने से पहले पैरों को भी जल से धो लेवें। हर्ष और विनय के साथ भीतर प्रवेश करें और वहाँ जब तक रहें, भगवान का दर्शन, स्तवन, पूजन, सामायिक स्वाध्याय आदि धार्मिक कार्य करते रहें जब अपनी सुविधा (फुर्सत), समय के अनुसार इन धर्म कार्यों को कर चुकें तब मन्दिर के बाहर आ जावे। शान्ति के साथ वहाँ से चले आवें।

मन्दिर में घर गृहस्थाश्रम की चर्चा करना, किसी व्यक्ति की निन्दा, प्रशसा करना, असत्य बोलना, चोरी करना, किसी स्त्री पुरुष को कुदृष्टि से देखना, व्यर्थ बकवाद करना, थूकना, भोजन करना, खेलना, आदि कार्य कभी न करने चाहिये। ऐसे कार्य करने से बहुत पाप-बन्ध होता है, धर्म साधन के लिये मन्दिर में आये हुये अन्य स्त्री पुरुषों को भी क्षोभ होता है, अत मन्दिर की पवित्रता सुरक्षित रखने के लिये वहा कोई अनुचित बात न करनी चाहिए।

अकृत्रिम चैत्यालय

जगत् में बहुत से ऐसे मन्दिर भी हैं जिनको किसी मनुष्य ने नहीं बनाया, अनादि समय से चले आ रहे हैं। उनको "अकृत्रिम चैत्यालय" कहते हैं। उन अकृत्रिम चैत्यालयों में अर्हन्त भगवान की बहुत मनोहर प्रतिमाएँ विराजमान हैं। किसी तीर्थंकर विशेष की प्रतिमाएँ नहीं हैं।

दर्शन की विधि

भगवान के सामने जाते ही वहुत विनय के साथ हाथ जोड़ कर शिर झुकावे, णमोकार मंत्र पढ़कर कोई स्तुति, स्तोत्र का कोई श्लोक छन्द पढ़कर हाथ में लाये हुए शुद्ध चावल चढ़ावे। फिर पृथ्वी पर अष्टाङ्ग (लेटकर) अथवा पंचाङ्ग (घुटने के वल वैठ कर-दो पैर, दो हाथ, शिर—पांच अङ्ग) नमस्कार करे यानी—घुटने के वल वैठकर, जुड़े हुए हाथों को तथा मस्तक को पृथ्वी से लगावे—धोक देवे। दो हाथ, दो पैर, छाती, शिर, कमर और पीठ ये आठ अंग माने गये हैं। अष्टांग नमस्कार में इन सभी अङ्गों को झुका कर नमस्कार किया जाता है।

प्रदक्षिणा

धोक देने के बाद हाथ जोडकर खड़ा हो जावे और अच्छे स्वर में स्पष्ट शुद्ध उच्चारण के साथ सस्कृत भाषा का या हिन्दी का स्तोत्र पढ़ना आरम्भ करे। हाथ जोड कर स्तोत्र पढ़ता हुआ अपनी वायी ओर से चलकर वेदी को धीरे-धीरे तीन परिक्रमा दे। तदनन्तर स्त्रोत्र पूरा कर लेने पर फिर पचाङ्ग या अष्टांग नमस्कार-पूर्वक धोक देवे।

ध्यान रखने योग्य बातें

दर्शन् करते समय अपनी दृष्टि (निगाह) भगवान की प्रतिमा पर ही रक्खे, अन्य कोई वस्तु न देखे। उस समय स्तोत्र में निमग्न होकर ऐसा तन्मय हो जावे कि मन वचन काय में अन्य कोई क्रिया न आने पावे। भगवान की मूर्ति को एकटक होकर देखे और भावना करे कि जैसी भगवना की आकृति (मूर्ति) है वैसी ही शान्ति वीतरागता मेरे आत्मा में प्रकट हो, जैसे भगवान सिंहासन, छत्र, चवर आदि विभूति रहते हुये भी उनसे

निर्लिप्त (अछूते) रहे, इसी तरह मैं भी सांसारिक विभूति होते हुए भी उससे अलिप्त रहूँ। जैसे भगवान में समता भाव था, उनका न कोई मित्र था, न कोई शत्रु, ऐसी ही भावना मेरे हृदय में जाग्रत हो, इत्यादि चिन्तवन करे।

परिक्रमा देते समय यदि कोई स्त्री पुरुष धोक दे रहा हो तो उसके आगे से न निकले, पीछे की ओर से निकले अथवा जब तक वह धोक से न उठे तब तक खड़ा रहे, आगे न बढ़े।

दर्शन करते समय इस तरह खड़े होना या परिक्रमा करनी चाहिये जिससे दूसरे व्यक्तियों को दर्शन, पूजन में विघ्न न पडे।

दर्शन कर लेने के बाद भगवान के अभिषेक का गन्धोदक अपने हाथ की अगुलियों को गन्धोदक के पास रक्खे अन्य जल में डुबाकर शुद्ध कर लेने पर उंगलियों से(गन्धोदक) लेकर अपने शिर, मस्तक, नेत्र, गर्दन, छाती आदि उत्तम अगो पर लगावे और फिर गन्धोदक वाली उंगलियों को पास में रक्खे जल मे डुबाकर धो लेवे जिससे पवित्र गन्धोदक वाली उंगलियों का सम्पर्क किसी अन्य अपवित्र पदार्थ से न होने पावे। भगवान का अभिषेक का जल गन्धोदक या प्रक्षाल जल कहा जाता है।

चावल

भगवान के सामने खाली हाथ न आना चाहिए, कम से कम चावल चढ़ाने के लिये हाथ में अवश्य लाना चाहिये। चावल चढ़ाने का अभिप्राय यही है कि जिस तरह धान से छिलका उतर जाने पर फिर धान में उगने की शक्ति नहीं रहती, इसी प्रकार भगवान के दर्शन भक्ति करने से मेरी आत्मा भी ससार में उगने यानी—फिर जन्म लेने योग्य न रहे।

परिक्रमा

भगवान की गन्ध कुटी समवशरण के बीच में होती है और

पूर्वमुख होते हुए भी भगवान का मुख दैवी अतिशय के कारण चारों ओर दिखाई देता है, अतः दर्शन करने वाले स्त्री पुरुष भगवान के चारों ओर परिक्रमा देकर उनके चारों ओर दिखाई देने वाले मुखों का दर्शन करते हैं । वैसा ही अनुकरण मंदिर में वेदी की प्रदक्षिणा देकर किया जाता है मन वचन काय तीनों योगों की भक्ति प्रगट करने के लिये तीन प्रदक्षिणा दी जाती है।

सूर्य सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा बांयी ओर से घूम कर करता है उसी के अनुरूप प्रदक्षिणा करनी चाहिये । भगवान का दाहिना भाग भी पहले तभी आ सकता है जब कि हम अपने बांयी ओर से प्रदक्षिणा दें । दाहिना भाग अधिक शुभ माना जाता है। क्योंकि आशीर्वाद देने, शान्ति स्थापित करने, उपदेश देने आदि कोई भी शुभ कार्य करने में दाहिना हाथ ही उठता है।

गन्धोदक

तीर्थंकर के शरीर में जन्म से ही सुगन्धि आती है, अतः उनके शरीर का प्रक्षालित जल (अभिषेक का जल) भी सुगन्धित होता है, इसी कारण प्रक्षाल को गन्ध+उदक—गन्धोदक यानी-सुगन्धित जल कहते हैं । जैसे गुरु की चरण रज को मस्तक से लगाने पर मन में गुरु का गौरव जाग्रत होता है, इसी प्रकार भगवान का अभिषेक जल—गन्धोदक अपने उत्तम (नाभि के ऊपर के) अङ्गोंसे लगाने पर भगवान में भक्तिभाव जाग्रत होता है।

गन्धोदक लगाते समय पढना चाहिये।

निर्मलं निर्मलीकारं पवित्रं पापनाशकम् ।
जिनगन्धोदकं वन्दे अष्टकर्मविनाशकम् ।

अथवा

निर्मल से निर्मल अती, अघनाशक सुखसीर ।
वदूं जिन अभिषेक कृत, यह गन्धोदक नीर ॥

पूजन

अपने चित्त मे भगवान के गुणो का विशेष रूप से मन, वचन, काय द्वारा कथन, चिन्तवन करने के अभिप्राय से जल, चन्दन, अक्षत (बिना टूटे चावल), पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल इन द्रव्यो द्वारा पूजन किया जाता है, पूजन करते समय भूख, प्यास, मोह, अज्ञान, ज्ञानावरण आदि कर्म, सांसारिक सन्ताप, काम वासना को नष्ट करने, अविनश्वर मुक्ति पद प्राप्त करने की पवित्र भावना से जल आदि द्रव्य भगवान के सामने चढाये जाते हैं।

पूजन के अंग

प्रथम भगवान का शुद्ध जल से 'अभिषेक' करना, फिर पुष्प चढाते हुए ठौने मे 'आह्वान' (बुलाने की क्रिया—अत्र अवतर अवतर रूप से), फिर 'स्थापना' (अत्र तिष्ठ तिष्ठ रूप से ठौने में पुष्प चढाते हुए भगवान के स्थापना की क्रिया) तदनन्तर 'सन्नि-धीकरण' (अत्र मम सन्निहितो भव भव कहते हुए हृदय के निकट करने के लिये), ठौने में पुष्प क्षेपण करना होता है।

इतना करने के पीछे अष्ट द्रव्यों को जो क्रमश जल आदि द्रव्यों के छद पढकर 'ॐ ह्रीं' आदि मत्रो द्वारा चढाया जाता है, सो'पूजन' है। समस्त पूजन कर लेने के अनन्तर शान्तिपाठ पढ-कर ठौने मे पुष्प चढाते हुए पूजन की समाप्ति करना 'विसर्जन' है। इस तरह अभिषेक, आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन ये पूजा के अग हैं।

अंग शुद्धि

पूजन करने के लिये शुद्ध जल से स्नान करके शुद्ध धोती दुपट्टा पहनना चाहिये। अधोवस्त्र (धोती) और उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टा) अलग होना चाहिये। धोती का ही भाग नहीं ओढना

चाहिये। दुपट्टा शिर पर ओढ लेना चाहिये। कुंए का जल शुद्ध होता है उसकी जिवानी भी पहुँचाई जा सकती है, अतः पूजन की सामग्री कुंए के जल से धोनी चाहिये।

दिशा

पूर्व और उत्तर दिशा शुभ मानी गई हैं। सूर्य का उदय पूर्व दिशा में होता है, समवशरण मे तीर्थंकर का मुख पूर्व दिशा की ओर होता है, अतः वह दिशा शुभ है। उत्तर दिशा में सुमेरु पर्वत है जिस पर कि चारों दिशाओं में १६ अकृत्रिम जिनालय हैं, तीर्थंकरों का जन्म-अभिषेक भी सुमेरु पर्वत पर होता है। विदेह क्षेत्रों में सदा तीर्थंकर होते है,वह विदेह क्षेत्र उत्तर दिशा में है। इत्यादि कारणों से उत्तर दिशा को शुभ माना जाता है। अतः सामायिक, पूजन आदि शुभ कार्य करते समय जहाँ तक हो सके पूर्व या उत्तर दिशा की ओर अपना मुख रखना चाहिये। वेदी तथा मदिर का द्वार भी पूर्व या उत्तर दिशा की ओर रक्खा जाता है।

भगवान का मुख यदि पूर्व दिशा की ओर हो तो पूजन करते समय भगवान के दाहिनी ओर खडे होने से भक्त पुजारी का मुख स्वयं उत्तर दिशा की ओर हो जाता है। जहाँ तक हो सके पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके पूजन आदि शुभ कार्य करने चाहिये।

अभिषेक के अनन्तर

अभिषेक कर लेने के पश्चात् अष्ट द्रव्य (जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल) थाल में सजाकर रखना चाहिये। एक अन्य खाली थाल में केसर, चंदन से स्वस्तिक (सांथिया) बनाकर सामग्री चढ़ाने के लिये रखना चाहियें। एक ठौने पर भी स्वस्तिक बनाकर उस ठौने को थाल

के आगे रखना चाहिये, एक पात्र जल चन्दन चढ़ाने के लिये होना चाहिये।

यह सब कर लेने पर णमोकार मंत्र पूर्वक स्वस्ति मंगल विधान ('श्रीवृषभो नः स्वस्ति' तथा 'स्वस्तिक्रियासुः परमर्षयो नः, इत्यादि पाठ तक) करना चाहिये। स्वस्ति मंगल विधान कर लेने पर देव शास्त्र गुरु, विदेह क्षेत्रस्थ वर्तमान २० तीर्थंकर, सिद्ध परमेष्ठी आदि की पूजन प्रारम्भ करने से प्रथम ठौने में उस पूजन सम्बन्धी आह्वान (पूजन के लिये भक्तिभाव से बुलाने की क्रिया), स्थापना (ठौने में स्थापित करने की क्रिया) तथा सन्निधीकरण (अपने हृदय के निकट करने की क्रिया) करना चाहिये।

प्रतिमा के सन्मुख

जिस किसी तीर्थंकर की पूजा करने की अभिलाषा हो और उस तीर्थंकर की प्रतिमा सामने वेदी में विराजमान हो तब भी आह्वान, स्थापना और सन्निधीकरण क्रियाएं अवश्य करनी चाहिये, क्योंकि पूजन विधान में ये तीनों क्रियाएं पूजन की अंग मानी गई हैं। जैसे हम अपने घर में आते हुए अतिथि के सन्मुख आदर प्रदर्शित करते हुए "आइये आइये" आदि शब्द उच्चारण करते हैं, उसी प्रकार सन्मुख विराजमान तीर्थंकर मूर्ति की भी पूजा करते समय भक्ति सूचक क्रिया आह्वान, स्थापना, सन्निधीकरण करना उचित है।

आह्वान, स्थापना सन्निधीकरण करने के पश्चात् अष्ट द्रव्य से पूजन करना चाहिये।

विसर्जन

समस्त पूजाएँ कर लेने के पश्चात् शान्तिपाठ पढ़ना चाहिये तदनन्तर अन्त में पूजन क्रिया की समाप्ति के अनुरूप पूज्य

तीर्थंकर आदि को सम्मान और भक्ति के साथ विदा देने की क्रिया करनी चाहिये इस क्रिया का नाम 'विसर्जन' (समाप्त) करना) है।

कुछ भाइयों का ख्याल है कि "पद्मावती" धरणीन्द्र आदि शासन देवताओं को विदा देने रूप 'विसर्जन' क्रिया है।" किन्तु यह ठीक नहीं है विसर्जन क्रिया पूजा का ही एक अग है अतः जिन का पूजन किया जाता है विसर्जन भी उनका ही होता है।

भ्रम का कारण

शासन देवताओं के विसर्जन का भ्रम इस कारण कुछ भाइयों मे फैल गया है कि अकृत्रिम चैत्यालयो की पूजा का निम्नलिखित पद्य कुछ पुस्तक प्रकाशकों ने निम्नलिखित रूप से अशुद्ध छाप दिया है—

कृत्याकृत्रिमचारुचैत्यनिलयान्नित्यं त्रिलोकीगतान्,
वन्दे भावनव्यन्तरान् द्युतिवरान् कल्पामरान्सर्वगान्।
सद्गन्धाक्षतपुष्पदामचरुकैः सद्दीपधूपैः फलैः,
नीराद्यैश्च यजे प्रणम्य शिरसा दुष्कर्मणां शान्तये ॥१॥

इस पद्य की दूसरी पक्ति अशुद्ध है तदनुसार पहली पंक्ति मे अकृत्रिम चैत्यालयो का उल्लेख करते हुए दूसरी पंक्ति मे अप्रासंगिक भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी देवो का नाम आ गया है, जिससे भ्रम मे पड़ कर लोगो ने समझ लिया है कि इस पूजा में चारों प्रकार के संसारी देवों की पूजा भी की जाती है और विसर्जन मे इन ही चतुर्निकाय देवों का विसर्जन किया जाता है। किन्तु यह धारणा गलत है। आरा की प्राचीन शुद्ध पूजन पाठ की प्रति के अनुसार उक्त पद्य की दूसरी पंक्तियाँ हैं—

'वन्दे भावनव्यन्तरद्युतिवरस्वर्गामरावासगान्'

इस शुद्ध दूसरी पंक्ति का अर्थ प्रकरण के अनुसार अकृत्रिम चैत्यालयों का विवरण देते हुए यों है—

भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क तथा कल्पवासी देवों के (विमानवर्ती) चैत्यालयों की मैं वन्दना करता हूं।

अतः प्रत्येक भाई को अपनी पूजन पुस्तक में अकृत्रिम चैत्यालय पूजा की यह पंक्ति सुधार करके 'विसर्जन' का ठीक अभिप्राय पूर्व लिखे अनुसार समझना चाहिये।

पूजन के विषय का विशेष विवरण 'पूजन रत्नाकर' पुस्तक में दिया गया है, वहां से पढ़कर ज्ञात करें।

अभिषेक करने का उद्देश

तीर्थंकर के जन्म समय सुमेरु पर्वत पर तीर्थंकर का देवों के द्वारा अभिषेक होता है किन्तु अर्हन्त रूप में प्रतिष्ठित प्रतिमा का वह जन्म-अभिषेक तो होता नहीं और न अरहंत हो जाने के बाद तीर्थंकर भगवान का समवशरण आदि में कहीं कभी किसी के द्वारा अभिषेक होता है अतः प्रतिमा का अभिषेक तीर्थङ्कर की किसी घटना का अनुकरण नहीं है। इसी कारण अभिषेक करते समय जन्म कल्याणक की कविता (सहस अठोतर कलशा प्रभु के शिर ढुरे, आदि) पढ़ना उचित नहीं। अभिषेक के समय अभिषेक पाठ ही पढ़ना चाहिए। अभिषेक पाठ संस्कृत तथा भाषा का भिन्न-भिन्न है।

जिस प्रकार अरहंत भगवान क्षुधा तृषा (भूख, प्यास) आदि दोषों से रहित हैं, अतः उनको जल पीने और नैवेद्य (पकवान-पक्वान्न), फल खाने की आवश्यकता नहीं है। पूजन में भक्त पुजारी अपने क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण आदि दोषों से मुक्त होने के अभिप्राय से उन पदार्थों को भगवान के सामने चढ़ाता है,

भगवान का खिलाने पिलाने का अभिप्राय अष्ट द्रव्य चढ़ाने में नहीं रक्खा गया है।

इसी प्रकार अरहंत भगवान समस्त मल-रहित परम-औदारिक शरीर-धारक हैं, उनका अभिषेक करने से उनका शारीरिक मल दूर नहीं होता, न ऐसा किया ही जाता है। किन्तु एक भक्त भक्तिवश भगवान के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करने के लिये उनके शरीर का स्पर्श करना चाहता है, भक्तिवश उनके चरण की धूल अपने मस्तक से लगाना चाहता है, अपनी भक्ति विषयक इन इच्छाओं को सम्पन्न (पूर्ण) करने के लिये पूजन के अग के रूप में पूजन मे पहले अभिषेक किया जाता है।

अभिषेक को करते समय अभिषेक करने वाले के हृदय में तथा अभिषेक देखने वालों के हृदय में अच्छा भक्तिभाव उत्पन्न होता है। इसके सिवाय भगवान के अभिषेक का जल आदि उत्तम अगों से लगाकर भगवान के स्पर्श (छूने) की पवित्र इच्छा की आंशिक (किसी अंश में) पूर्ति की जाती है।

अभिषेक के द्वारा भगवान की वीतराग मुद्रा और भी अधिक देदीप्यमान हो उठती है, यह बिना चाहा गौण प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है।

अभिषेक पाठ

[श्री प० रूपचन्द जी पांडे कृत]

जय जय भगवते सदा, मगल मूल महान।
वीतराग सर्वज्ञ प्रभु; नमौं जोरि जुग पान॥

[चाल-पंच मंगल]

श्री जिन जग में ऐसो को बुधिवन्त जू,
जो तुम गुण वरननि करि पावे अत जू।

इन्द्रादिक सुर चार-ज्ञानधारी मुनी,
कहि न सकें तुम गुण गण हे त्रिभुवन धनी ॥
अनुपम अमित गुणगणनि वारिधि ज्यों अलोकाकाश है ।
किमि धरें उर कोष में सो, अकथ गुणमणि राश है ॥
पै निज प्रयोजन सिद्धि की तुम नाम में ही शक्ति है ।
यह चित्त में सरधान यातें नाम ही में भक्ति है ॥ १ ॥
ज्ञानावरणी दर्शन-आवरणी भने,
कर्म मोहनी अन्तराय चारों हने ।
लोकालोक विलोक्यो केवल ज्ञान में,
इन्द्रादिक के मुकुट नये सुरथान में ॥
तब इन्द्र जान्यो अवधितें उठि सुरन-युत वदत भयो,
तुम पुण्य को प्रेर्यो हरी ह्वै मुदित धनपतिसों चयो ।
अब वेगि जाय रचो समवसृति सफल सुरपद को करो,
साक्षात श्री अरहन्त के दर्शन करौ कल्मष हरो ॥ २ ॥
ऐसे वचन सुने सुरपति के धनपती,
चल आयौ तत्काल मोद धारे अती ।
वीतराग छवि देखि शब्द जय जय चयौ,
दे प्रदच्छिना वार वार वदत भयो ॥
अतिभक्ति भीनो नम्र-चित ह्वै समवशरण रच्यौ सही,
ताकी अनूपम शुभगती के कहन समरथ कोउ नहीं ।
प्राकार तोरण सभामण्डप कनक मणिमय छाज ही,
नगजड़ित गन्धकुटी मनोहर मध्य भाग विराजही ॥ ३ ॥
सिंहासन तामध्य बन्यौ अद्भुत दिपै,
तापर वारिज रच्यौ प्रभा दिनकर छिपै ।
तीन छत्र सिर शोभित चौंसठ चमर जी,
महा-भक्तियुत ढोरत हैं तह अमर जी ॥

प्रभु तरनतारन कमल ऊपर अतरीक्ष विराजिया,
यह वीतराग दशा प्रतच्छ विलोक भविजन सुख लिया।
मुनि आदि द्वादश सभा के भवि जीव मस्तक नायकें,
बहु भांति वारम्बार पूजैं नमैं गुण गण गायकें ॥४॥

परमौदारिक दिव्य देह पावन सही,
क्षुधा तृषा चिन्ता भय गद दूषण नहीं।
जन्म जरा मृति अरति शोक विस्मय नसे,
राग रोष निद्रा मद मोह सबै खसे ॥

श्रम बिना श्रम जल रहित पावन अमल ज्योति स्वरूप जी,
शरणागतन की अशुचिता हरि करत विमल अनूप जी।
ऐसे प्रभु की शान्त मुद्रा को न्हवन जलतैं करें,
जस भक्तिवश मन-उक्ति तैं हम भानुढिग दीपक धरें ॥५॥

तुम तो सहज पवित्र यही निश्चय भयो,
तुम पवित्रता हेत नहीं मज्जन ठयो।
मैं मलीन रागादिक मलतैं ह्वै रह्यो,
महा मलिन तन में वसुविधिवश दुख सह्यो ॥

बीत्यो अनन्तो काल यह मेरी अशुचिता ना गई,
तिस अशुचिताहर एक तुम ही भरहु वांछा चित ठई।
अब अष्ट कर्म विनाश सब मल रोष रागादिक हरो,
तन रूप कारागेह तैं उद्धार शिव वासा करो ॥६॥

मैं जानत तुम अष्ट कर्म हरि शिव गये,
आवागमन विमुक्त रागवर्जित भये।
पर तथापि मेरो मनरथ पूरत सही,
नय प्रमान तैं जानि महासाता लही ॥

पापाचरण तजि न्हवन करता चित्त में ऐसे धरू,
साक्षात् श्री अरहन्तका मानों न्हवन परसन करूं।
ऐसे विमल परिणाम होते अशुभ नसि शुभबंध-तैं,

विधि अशुभ नसि शुभ बंध तैं ह्वै शर्म सब विधि नाश तैं ॥७॥

पावन मेरे नयन भये तुम दरस तैं,
पावन पानि भये तुम चरनन परसतैं।
पावन मन ह्वै गयो तिहारे ध्यान तैं,
पावन रसना मानी तुम गुण गान तैं।

पावन भई परजाय मेरी भयो मैं पूरण धनी,
मैं शक्तिपूर्वक भक्ति कीनी पूर्ण भक्ति नहीं बनी।
धन्य ते बडभागि भवि तिन नींव शिव घर की धरी
भरि क्षीरसागर आदि जल मणिकुंभ भरि भक्ती करी ॥८॥

विघन सघन वन-दाहन दहन प्रचण्ड हो,
मोह महातम दलन प्रबल मारतण्ड हो।
ब्रह्मा विष्णु महेश आदि संज्ञा धरो
जग विजयी जमराज नाश ताको करो ॥

आनन्द कारण दुख निवारण परम मंगलमय सही,
मोसों पतित नहिं और तुम सों पतिततार सुन्यों नहीं।
चिन्तामणी पारस कलपतरु एक भव सुखकार ही,
तुम भक्ति नवका जे चढे ते भये भवदधि पार ही ॥९॥

तुम भवदधि तैं तरि गये, भये निकल अविकार।
तारतम्य इस भक्ति को, हमें उतारो पार ॥१०॥

दर्शन के समय क्या पढ़ें

भगवान की वेदी के सामने जाते हुए प्रथम ही निम्नलिखित णमोकार मंत्र उच्चारण करे—

ॐ जय जय जय, नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु,
णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

(इस नमस्कार मन्त्र मे प्राकृत भाषा से पूर्वोक्त पांच परमेष्ठियो को नमस्कार किया गया है।) णमोकार मत्र पढकर नीचे लिखे वाक्य पढें।

एसो पंच णमोयारो सव्व पावपणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं ॥

[यानी—यह पांच परमेष्ठियो को नमस्कार रूप मंत्र सब पापों का नष्ट करने वाला है। समस्त मगलों मे पहला मंगल रूप है।]

चत्तारि मगल, अरहता मंगल, सिद्धा मंगलं, साहू मगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगल, चत्तारि लोगुत्तमा, अरहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरण पव्वज्जामि, अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहू सरण पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्त' धम्म सरण पव्वज्जामि।

(इन वाक्यों मे संसार मे सबसे अधिक मगल यानी शुभ सबसे अधिक उत्तम और ससार मे शरण यानी आश्रय रूप—१. अरहत, २. सिद्ध, ३. साधु और ४. जैनधर्म को बताया है। चत्तारि मगलं=चार पदार्थ मंगलीक हैं, अरहता मगल=अर्हत भगवान मंगल रूप हैं, सिद्धा मगल=सिद्ध भगवान मगलीक हैं। साहू मंगलं=साधु परमेष्ठी मंगल रूप हैं। केवलिपण्णत्तो धम्मो मगलं=केवली भगवान का उपदेश दिया गया धर्म मगलमय है। चत्तारि लोगुत्तमा=जगत में चार पदार्थ उत्तम यानी सबसे श्रेष्ठ हैं। अरहता लोगुत्तमा=अर्हत भगवान लोक मे उत्तम हैं। सिद्धा लोगुत्तमा=सिद्ध भगवान जगत में सबसे श्रेष्ठ हैं। साहू

लोगुत्तमा=साधु परमेष्ठी लोक में उत्तम हैं। केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा=केवली भगवान का उपदिष्ट धर्म इस जगत मे उत्तम है। चत्तारि सरण पव्वज्जामि=मैं चार पदार्थों की शरण लेता हूँ। अरहते सरण पव्वज्जामि=अर्हंत भगवान की शरण लेता हूँ। सिद्धं सरण पव्वज्जामि=सिद्ध परमेष्ठी की शरण लेता हूँ। साहू सरण पव्वज्जामि=मैं साधु परमेष्ठी की शरण लेता हूँ। केवलिपण्णत्त धम्मसरण पव्वज्जामि=केवली भगवान के उपदिष्ट धर्म की शरण लेता हूँ। फिर नीचे लिखा छन्द पढ़े।

ऋषभ अजितसभव अभिनन्दनसुमति पदमसुपार्श्वजिनराय
चंद्र पुष्पशीतल श्रेयास नमि वासुपूज्य पूजत सुरराय॥
विमल अनन्त धर्मजसउज्वल शान्ति कुन्थु अरि मल्लि मनाय
मुनिसुव्रत नमि नेमि पार्श्व प्रभु वर्द्धमान पद पुष्प चढाय॥

इतना पढकर भगवान के आगे चावल चढ़ाकर धोक दे। तदनन्तर पठनीय स्तोत्रों में से कोई एक अथवा सस्कृत भाषा का भक्तामर आदि जो भी स्तोत्र याद हो, पढ़ता हुआ भगवान की प्रदक्षिणा दे।

शास्त्र जी को नमस्कार करने की कविता

वीर हिमाचल तैं निकसी, गुरु-गौतम के मुख-कुण्ड ढरी है।
मोह-महाचल भेद चली, जग की जडता-तप दूर करी है॥
ज्ञान-पयोनिधि माहिं रली, बहु भग तरगिनि सों उछरी है।
ता शुचि शारद-गगनदी प्रति, मैं अजुलिकर शीश धरी है॥१॥
या जग मन्दिर मे अनिवार अज्ञान-अधेर छयो अति भारी।
श्रीजिनकी धुनि दीप-शिखासम, जो नहिं होत प्रकाशनहारी॥

तो किस भांति पदारथ-पांति, कहां लहते ? रहते अविचारी ।
या विधि सत कहैं धनि हैं, धनि हैं जिन-बैन बड़े उपकारी ॥ ९ ॥

जिन-वाणी के ज्ञान से, सूझै लोकालोक ।
सो वाणी मस्तक चढो, सदा देत हूं धोक ॥

बारह भावना भूधरदासकृत

दोहा—राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार ।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी वार ॥१॥
दल-बल देई-देवता, माता-पिता परिवार ।
मरती बिरियाँ जीव को, कोऊ न राखनहार ॥ २ ॥
दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान ।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देखो छान ॥ ३ ॥
आप अकेला अवतरे, मरै अकेला होय ।
यों कबहूँ इस जीव को, साथी-सगा न कोय ॥ ४ ॥
जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय ।
घर-सम्पति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन-लोय ॥५॥
दिपै चाम चादर मढी, हाड़ पींजरा देह ।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन गेह ॥६॥
सोरठा—मोह-नींद के जोर, जगवासी घूमैं सदा ।
कर्म-चोर चहुँ ओर, सरवस लूटैं सुध नहीं ॥७॥
सतगुरु देय जगाय, मोह-नींद जब उपशमैं ।
तब कछु बने उपाय, कर्म-चोर आवत रुकैं ॥८॥
दोहा—ज्ञान-दीप तप-तेल भर, घर शोधै भ्रम छोर ।
या विधि बिन निकसे नहीं, बैठे पूरब चोर ॥९॥
पचमहाव्रत सचरन, समिति पंच परकार ।
प्रबल पंच इन्द्रिय-विजय, धार निर्जरा सार ॥१०॥

चौदह राजु उतग नभ, लोक पुरुष सठान।
तामे जीव अनादितैं, भरमत हैं बिन ज्ञान ॥११॥
धन कन कचन राज-सुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है ससार मे, एक जथारथ ज्ञान ॥१२॥
जांचे सुरतरु देय सुख, चिन्तत चिन्तारैन।
बिना जाचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन ॥१३॥

सामायिक

ससार के समस्त पदार्थों के साथ यहां तक कि अपने शरीर से भी मोह-ममता दूर करने के लिये जब किसी से द्वेष घृणा मिटाने के अभिप्राय से जो मन के विचारों को आत्मा की ओर सन्मुख किया जाता है उसे 'सामायिक' कहते हैं।

आत्मा को राग द्वेष आदि विकार-मैलों से शुद्ध करने के लिये सबसे अच्छा साधन यह आत्मध्यान या सामायिक ही है। इस कारण प्रतिदिन कुछ न कुछ समय तक सामायिक अवश्य करना चाहिये।

सामायिक की विधि

जहां पर कोई पशु पक्षी, स्त्री पुरुष, बच्चे आदि अपने शब्दों या अन्य किसी चेष्टा से मन को विक्षेप-विचलित करने वाले न हों, जो स्थान शान्त हो, कोलाहल तथा उपद्रव से रहित हों, ऐसे स्थान पर सामायिक करनी चाहिये।

सामायिक करने से पहले अपने वस्त्र, शिर के बाल आदि ठीक कर लेने चाहिए जिससे सामायिक करते समय वायु से उड़कर या हिलते हुए वे चित्त को विचलित करने का कारण न बन सकें।

सबसे पहले पूर्व दिशा की ओर अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख करके खड़ा होकर नौ वार णमोकार मन्त्र पढे, फिर पृथ्वी

पर वहीं बैठकर धोक देवे, तदनन्तर उसी स्थान पर फिर खड़ा होकर तीन वार णमोकार मंत्र पढे, उसके वाद हाथ जोड़कर तीन आवर्त (जुडे हुए हाथो को बायीं ओर से गोल रूप में तीन वार पूरा घुमाना) और एक 'शिरोनति' (जुड़े हुए हाथों पर मस्तक लगाकर नमस्कार) करे। इतना कर लेने पर दाहिने हाथ की ओर घूम जावे, उधर भी तीन वार णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त, एक शिरोनति करे, फिर दाहिनी ओर घूमकर तीन वार णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त एक शिरोनति करे, तदनन्तर फिर दाहिनी ओर घूमकर चौथी दिशा की ओर मुख करके तीन वार णमोकार मन्त्र पढ़े और तीन आवर्त एक शिरोनति करे। इतना कर लेने पर दाहिनी ओर घूमकर उसी पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर—जिधर धोक दी थी—मुख कर बैठ करके या खड़ा होकर सामायिक करे।

सामायिक करने के प्रारम्भ में यह नियम कर लेना चाहिये कि जब तक सामायिक समाप्त न हो जायगी तब तक चाहे जैसा विघ्न या उपद्रव आवे मैं अपने स्थान से नहीं हटूंगा, न अपने विचारों में हिंसा, झूठ, चोरी काम-सेवन या परिग्रह की मोह ममता के भाव आने दूंगा, सामायिक-सम्बन्धी पाठ, मंत्र आदि उच्चारण के सिवाय अन्य कुछ न बोलूंगा और पद्मासन या खड्गासन से अडिग रहूंगा। यानी—शरीर से कोई दूसरी चेष्टा न करूँगा। ऐसा दृढ़ संकल्प करके सामायिक करनी चाहिये।

सामायिक में क्या करे

सामायिक करते समय मन को बाहरी विचारों से हटा करके आत्मा की ओर लगाने के लिये अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप चिन्तवन करे, किसी वीतराग मूर्ति का विचार करे, बारह भाव-

नाओं में या आत्मा के शुद्ध स्वरूप को विचारने में मन को रोके कि 'मैं शुद्ध चैतन्य निर्विकार हूँ, यह शरीर तथा पुत्र, मित्र, स्त्री धन, मकान आदि कोई भी वस्तु मेरी नहीं है संसार के सभी पदार्थ अपने अपने रूप में परिणत हो रहे हैं उनके उन परिणमनों को न तो मैं अपने अनुरूप कर सकता हूँ और न मैं उन जैसा हो सकता हूँ, इस कारण दूसरे पदार्थ न मुझे कुछ हानि लाभ दे सकते हैं। और न मैं वास्तव में किसी का कुछ बिगाड सुधार कर सकता हूँ। अत. संसार में न मेरा कोई मित्र है, न कोई शत्रु। मैं अखण्ड सुख का भण्डार तथा पूर्ण ज्ञान का पिण्ड हूँ। राग, द्वेष, काम, क्रोध मोह, माया, अहंकार, ममकार, लोभ तृष्णा मेरे शुद्ध भाव नहीं है, ये तो कर्मों के विकार से हो जाते हैं। मैं निरञ्जन निर्विकार शुद्ध सच्चिदानन्द रूप हूँ। क्षमा, सन्तोष, सत्य शौच, ब्रह्मचर्य त्याग, धैर्य, शान्ति, निर्भयता मेरे गुण हैं, जो अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी में गुण हैं वे ही मुझ में भी हैं। राग द्वेष छोडकर यदि मैं भी कुछ प्रयत्न करूँ तो मैं पूर्ण ज्ञानी, वीतराग बन सकता हूँ, अजर अमर परमात्मा हो सकता हूँ" इत्यादि।

ऐसा विचार करे, विरक्ति लाने के लिये बारह भावना पढ़े, किसी मंत्र का जाप करे। यानी—उस समय अपने मन को सांसारिक रागद्वेष, मोह ममता के विचारों से रोके रहे।

यह सब कुछ कर लेने पर उसी स्थान पर खड़ा हो जावे और नौ वार णमोकार मंत्र पढ़कर धोक दे। इस तरह सामायिक समाप्त करे।

जपने के मन्त्र

णमोकार मंत्र सब मंत्रों से श्रेष्ठ है, यदि पूर्ण श्रद्धा के साथ इस मंत्र को जपा जावे तो सभी विघ्न, संकट, विपत्ति दूर हो

शुभ या अशुभ कार्य करने के १०८ द्वार निम्नलिखित हैं—

१. मन (विचार करना), २. वचन (कहना), ३. शरीर (कोई कार्य करना)

१. कृत (स्वयं करना), २. कारित (अन्य से कराना) ३. अनुमोदन (किसी के किये हुए काम की सराहना करना)

१. संरंभ (करने का संकल्प—इरादा करना) २. समारम्भ (काम करने के साधन जोड़ना), ३. आरम्भ (काम का आरम्भ—शुरू कर देना)

ये सब कार्य १. क्रोध वश किसी को मारने पीटने के लिये किये जावें। अथवा २. अभिमान वश किसी को अपमानित (बे-इज्जत) करने के विचार से किये जावें। ३. या छलाचार के रूप में किसी को धोखा देने के इरादे से इनको किया जाता है अथवा —४. लोभ-वश होकर जीव ऊपर लिखे ढंगों को अपनाकर काम करते हैं।

तदनुसार—

१—मन कृत सरम्भ (मन में स्वयं किसी काम करने का इरादा किया हो।)

२.—मन कृत समारम्भ (मन में स्वयं करने के लिये सामग्री जोड़ने का विचार)

३—मन कृत आरम्भ (मन में किसी कार्य को स्वयं आरम्भ करने का विचार)

४—मन कारित संरम्भ (मन में दूसरे के द्वारा कार्य कराने का विचार)

५—मन कारित समारम्भ (मन में दूसरे के द्वारा कार्य कराने की साधन-सामग्री का विचार)

६—मन कारित आरम्भ (मन में अन्य द्वारा कार्य प्रारम्भ करा देने की भावना)

७—मन अनुमोदना सरम्भ (मन में अन्य के किये गये काम पर सराहना करने का इरादा करना)

८—मन अनुमोदना समारम्भ (मन से अन्य के कार्य की सराहना करने के साधन जुटाने की भावना)

९—मन अनुमोदना आरम्भ (मन में किसी के काम की सराहना कर डालने का विचार)

इसी प्रकार—

१० वचन कृत सरम्भ ११ वचन कृत समारम्भ, १२ वचन कृत आरम्भ, १३. वचन कारित सरम्भ, १४ वचन कारित समारम्भ १५. वचन कारित आरम्भ १६. वचन अनुमोदना संरम्भ, १७. वचन अनुमोदना समारम्भ, १८ वचन अनुमोदना आरम्भ।

इसी प्रकार—

१९. शरीर कृत सरम्भ, २० शरीर कृत समारम्भ, २१, शरीर कृत आरम्भ, २२ शरीर कारित सरम्भ, २३ शरीर कारित समारम्भ, २४. शरीर कारित आरम्भ, २५ शरीर अनुमोदना संरम्भ, २६ शरीर अनुमोदना समारम्भ और २७ शरीर अनुमोदना आरम्भ,

२७ प्रकार कार्य करने के ढंग क्रोध के कारण होते हैं,

२७ प्रकार के कार्य मान के कारण होते हैं,

२७ प्रकार से माया (छल कपट) द्वारा किये जाते हैं, और

२७ प्रकार से ही लोभ द्वारा भी कार्य करने में आते हैं।

इस कारण सब मिलकर कार्य करने के ढंग १०८ प्रकार के हैं। इन १०८ प्रकारों से किये गये पाप कार्यों से छुटकारा पाने के

विचार से जाप की माला मे १०८ दाने रक्खे गये है।

स्वाध्याय

ज्ञान तो प्रत्येक जीव में मौजूद है किन्तु वह ज्ञानावरण कर्म से छिपा हुआ है, पूर्ण विकसित नहीं है। उस छिपे हुए ज्ञान को विकसित करने के लिये स्वाध्याय एक सब से सफल साधन है। हमारे पूज्य विद्वान् ऋषियो ने तथा अनेक गृहस्थ विद्वानों ने जिन-वाणी को शास्त्रो मे लिख कर रख दिया है। उन शास्त्रों का पढ़ना सुनना, मनन करना, चर्चा करना, शका समाधान करना दूसरे को पढाना, समझाना आदि कार्य स्वाध्याय कहलाता है।

शास्त्रो के चार विभाग किये गये है

१—'प्रथमानुयोग'—जिनग्रन्थों मे तीर्थंकरों आदि त्रेसठ शलाका पुरुषो (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वलभद्र, ९ नारायण ९ प्रति- नारायण, ये ६३ शलाका यानी गणनीय पुरुष हैं), ऋषियों, पुण्यशाली, मोक्षगामी महान पुरुषों का जीवन चरित्र हो वे ग्रन्थ प्रथमानुयोग के हैं। जैसे—आदि—पुराण, उत्तर-पुराण, पद्मपुराण, हरिवश पुराण, शान्तिनाथ चरित्र, प्रद्युम्न-चरित्र, जीवन्धर आदि।

प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में कथा के साथ-साथ यथा-अवसर धर्म, नीति, उपदेश, चारित्र का कथन, द्रव्य, तत्व, गुणस्थान, लोकाकाश आदि का विवरण भी होता है। इस कारण प्रथमानुयोग में जहाँ सुन्दर, सरल, मनोरंजक कथा होती है, वहीं शेष तीनों अनुयोगों के विषय भी आ जाते हैं।

२—करणानुयोग—'करण' का अर्थ गणित, लोक, काल का विवरण भी लिया है—तदनुसार जिन ग्रन्थों में त्रिलोक का, काल परिवर्तन का, तथा गणित सूत्रों का विवरण हो वे 'करणानुयोग

वाले ग्रन्थ का ही मंगलाचरण पढ़कर उस ग्रन्थ का स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये और साथ मे एक नोट बुक रखनी चाहिये। शास्त्र की जो बात समझ में न आवे उसको ग्रन्थ का नाम और पत्र नम्बर सहित नोट बुक (पाकिटबुक) में लिख लेना चाहिये जिससे कि कभी अवसर मिलते ही किसी विशेष ज्ञानी विद्वान् से उस को पूछ कर उसकी समझ में न आई हुई बात को समझ लिया जावे।

शास्त्र सभा

प्रत्येक मन्दिर मे प्रात या रात्रि को कम से कम एक वार शास्त्र सभा अवश्य होनी चाहिये जिसमे अपने यहाँ का विशेष जानकार व्यक्ति शास्त्र पढे और सब स्त्री पुरुष उसको शान्ति के साथ सुने। शास्त्र-सभा की परम्परा बहुत लाभदायक है, अतः शास्त्र-सभा की प्रणाली जहाँ न हो वहाँ पर अवश्य चालू कर देना चाहिये। स्त्रियों की अलग शास्त्र-सभा भी आवश्यकतानसार होती रहे वह भी लाभदायक है।

ॐकार पाठ

शास्त्र सभा में शास्त्र पढने से पहले नीचे लिखा ॐकार-पाठ पढ़ना चाहिये।

ॐ कारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥१॥
अविरलशब्दघनौघा, प्रक्षालितसकलभूतलमलकलका।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितम् ॥२॥
अज्ञान-तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

परमगुरवे नमः परम्पराचार्यश्रीगुरुभ्यो नमः। सकलकलुषविध्वंसकं श्रेयसां परिवर्द्धकं, पुण्यप्रकाशकं पापप्रणाशकं इदं शास्त्रं श्री (जहाँ पर जिस ग्रन्थ को पढ़ा जा रहा हो उस ग्रन्थ का नाम कहना चाहिये) नामधेयं। अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवाः, तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्य श्री (जहां पर ग्रन्थ बनाने वाले आचार्य का नाम कहना चाहिए, यदि ग्रन्थ बनाने वाला कोई भट्टारक या गृहस्थ विद्वान् हो तो 'आचार्य श्री' के स्थान पर 'भट्टारक श्री' या 'पण्डित श्री' कहकर उस का नाम बोलना चाहिये) विरचितं। श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु)।

मंगलं भगवान्वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥४॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥५॥

इस प्रकार पाठ को पढ़ लेने पर ग्रन्थ का मंगलाचरण पढ़ना चाहिये तदनन्तर शास्त्र प्रारम्भ करना चाहिये। शास्त्र सभा में यदि कोई श्रोता (सुनने वाला स्त्री पुरुष) कोई शंका करे तो वक्ता (शास्त्र पढ़ने वाले) को बहुत शान्ति के साथ उस प्रश्न का ठीक शास्त्र-अनुसार उत्तर देना चाहिये। यदि प्रश्न अति गूढ़ या कठिन हो अथवा जिस का उत्तर वक्ता को शास्त्र-अनुसार न आता हो, या उस समय शास्त्र की वह बात स्मरण न हो, तो उसको स्पष्ट कह देना चाहिए कि इस प्रश्न का उत्तर इस समय मुझे नहीं आता, इस को शास्त्र देख कर या अन्य विद्वानों से पूछ कर बताऊँगा। उस प्रश्न को नोटबुक में नोट कर ले। समय मिलने पर उसका ठीक समाधान अन्य शास्त्र देखकर करे या

किसी विद्वान से पूछकर शास्त्र-सभा में उसका समाधान करे।

ठीक उत्तर न आते हुए भी अपना झूठा महत्त्व रखने के लिये ऊटपटांग गलत उत्तर देना अनुचित है। वक्ता का पद गणधर का होता है, अतः उसे सदाचारी और सत्यवादी होना चाहिये, शास्त्र की कोई भी बात मनगढ़न्त, झूठी, निराधार न कहनी चाहिये। सर्वज्ञ के सिवाय पूर्ण-ज्ञाता तो कोई भी नहीं होता। बडे-बडे विद्वान् आचार्यों को भी यदि कोई बात कहीं पर समझ मे नहीं आई तो वे स्पष्ट लिख गये हैं, कि, यह बात हम नहीं जानते (वित्थारुस्सेसहं ण जाणामो—गोम्मटसार आदि)।

परिशिष्ट

अकृत्रिम चैत्यालय

जगत मे बहुत से ऐसे मन्दिर भी हैं जिनको किसी मनुष्य ने नहीं बनाया, अनादि समय से चले आ रहे हैं। उनको "अकृत्रिम चैत्यालय" कहते हैं। उन अकृत्रिम चैत्यालयो में अर्हन्त भगवान की बहुत मनोहर प्रतिमाएं विराजमान हैं। किसी तीर्थंकर विशेष की प्रतिमाएं नहीं हैं।

पर्व दिवस

विशेष रूप से धर्म आचरण करने के दिन 'पर्व' कहलाते हैं। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी तो पर्व दिन हैं ही। इनके सिवाय ("अष्टान्हिका") कार्तिक, फागुन, और आषाढ़ मास के अन्तिम आठ दिन), दशलक्षण (भाद्रपद सुदी ५ से १४ तक १० दिन), "षोडशकारण" (भाद्रपद, माघ तथा चैत्र बदी १ से ३० दिन), "रत्नत्रय" भादों, माघ, चैत्र १३ से १५ तक तीन दिन), "दीपावली" (कार्तिक बदी अमावस),

वीर शासन जयन्ती (श्रावण वदी प्रतिपदा), रक्षाबन्धन (श्रावण सुदी १५) और श्रुतपंचमी (ज्येष्ठ सुदी ५), ये जैन समाज के प्रसिद्ध पर्व-दिन हैं।

गृहस्थ का मुख्य धर्म

ससार से मुक्त होने के लिये धर्म तथा शुद्धोपयोग साक्षात् कारण है और गृहस्थों का धर्म परम्परा कारण है। गृहस्थों की अन्य धार्मिक क्रियाओं मे 'दान करना' और अर्हन्त देव की 'पूजा करना' मुख्य बतलाया है। दान मे तथा पूजा मे जितना त्याग अंश है उससे कर्मों का सवर तथा निर्जरा होती है और जितना शुभराग अंश है उससे पुण्य बंध होता है, अतः दान और पूजा परम्परा से मुक्ति के कारण है। इनसे अनचाहा सांसारिक सुख स्वय मिल जाता है। समयसार के कर्ता परम आध्यात्मिक आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने 'रयणसार' ग्रन्थ मे लिखा है—

दाणं पूजा मुक्ख सावयधम्मे ण सावया तेणविणा।
झाणं झयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं विणा सोवि ॥११॥
जिणपूजा मुणिदाण करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावयधम्मो सो होइ मोक्खमग्गरओ ॥१३॥

यानी—दान देना और पूजा करना ये दोनों कार्य गृहस्थ धर्म मे मुख्य हैं। इन दोनों कार्यों के बिना श्रावक गृहस्थ नहीं होता। मुनि धर्म में ध्यान और स्वाध्याय करना मुख्य है इनके बिना मुनि नहीं हो सकता। जो मनुष्य जिनेन्द्र देवकी पूजा करता है और शक्ति अनुसार मुनियों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावकधर्म पालने वाला है तथा मोक्षमार्ग मे लगा हुआ है।

अतः प्रत्येक भाई को प्रतिदिन पूजा तथा शक्ति अनुसार दान अवश्य करना चाहिये।

जैनों की मूल मान्यताएं

(१) यह लोक अनादि अनन्त तथा अकृत्रिम है। चेतन अचेतन छः द्रव्यों से भरा है। अनन्तानन्त जीव भिन्न भिन्न हैं। अनन्तानन्त परमाणु जड़ हैं।

(२) लोक के सर्व ही द्रव्य स्वभाव से नित्य हैं, परन्तु अवस्था को बदलने की अपेक्षा अनित्य हैं।

(३) संसारी जीव प्रवाह की अपेक्षा अनादि से जड, पाप पुण्यमय कर्मों के शरीर से सयोग पाये हुए, अशुद्ध हैं।

(४) हर एक ससारी जीव स्वतन्त्रता से अपने अशुद्ध भावों द्वारा कर्म बांधता है और वही अपने शुद्ध भावो से कर्मों का नाश कर मुक्त हो सकता है।

(५) जैसे स्थूल शरीर मे लिया हुआ भोजन पान स्वयं रस रुधिर वीर्य बनकर अपने फल को दिया करता है, ऐसे ही पाप पुण्यमय सूक्ष्म शरीर में पाप पुण्य स्वय फल प्रकट करके आत्मा मे क्रोधादि व दुःख सुख झलकाया करता है। कोई परमात्मा किसी को दुख सुख नहीं देता।

(६) मुक्त जीव या परमात्मा अनन्त हैं। उन सबकी सत्ता भिन्न भिन्न है। कोई किसी मे मिलता नहीं। सब ही नित्य स्वात्मानन्द का भोग किया करते हैं तथा फिर कभी ससार अवस्था मे नहीं आते।

(७) साधक गृहस्थ या साधुजन मुक्ति-प्राप्त परमात्माओं की भक्ति व आराधना अपने परिणामों की शुद्धि के लिए करते हैं। उनको प्रसन्न कर उनसे फल पाने के लिए नहीं।

(८) मुक्ति का साक्षात् साधन अपने ही आत्मा को